THE BOOK WAS DRENCHED

TEXT FLY WITHIN THE BOOK ONLY

UNIVERSAL LIBRARY
OU_184113
UNIVERSAL LIBRARY

OUP—43—30-1-71—5,000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. S294.592 U65K Accession No. P.G. 32377

Author

Title काठकोपनिषत् 1935.

This book should be returned on or before the date last marked below.

आनन्दाश्रमसंस्कृतग्रन्थावलिः

ग्रन्थाङ्कः ७

सटीकाद्वयशांकरभाष्योपेता

# काठकोपनिषत् ।

सेयं

मास्टर ऑफ् आर्ट्स् इत्युपपदधारिभिः फर्ग्युसनकॉलेजस्थ-
संस्कृतभाषाध्यापकैः ' राजवाडे ' इत्युपाह्वै-
वैजनाथशर्मभिः संशोधिता ।

सा च

बी. ए. इत्युपपदधारिभिः

विनायक गणेश आपटे

इत्येतैः

पुण्याख्यपत्तने

श्रीमत् ' महादेव चिमणाजी आपटे ' इत्यभिधेय-
महाभागप्रतिष्ठापिते

आनन्दाश्रममुद्रणालये

आयसाक्षरैर्मुद्रयित्वा

प्रकाशिता

सप्तमीयमङ्कनावृत्तिः ।

शालिवाहनशकाब्दाः १८५७ ।

खिस्ताब्दाः १९३५ ।

( अस्य सर्वेऽधिकारा राजशासनानुसारेण स्वायत्तीकृताः ) ।

मूल्यं सपादैको रूपकः (१।४) ।

# आदर्शपुस्तकोल्लेखपत्रिका ।

अस्य ग्रन्थस्य संस्करणे ' महादेव चिमणाजी आपटे ' इत्येतैः प्रेषितानि यानि मुद्रितहस्तलिखितपुस्तकानि क. ख. इत्याद्यक्षरैरङ्कितान्युपयुक्तानि तेषु—

'क' इतिसंज्ञितं पुस्तकम्—कलिकातायां ' बिब्लीओथिका इण्डिका ' इति ग्रन्थावल्यां मुद्रितं कै० वे० शा० सं० बाळशास्त्री देव इत्येतेषामधिकारिभ्योऽधिगतम् ।

'ख' इतिसंज्ञितम्—इन्दुरवासिभ्यां किबेकुलोत्पन्नाभ्यां भाऊसाहेब बाळासाहेब इत्येताभ्यामधिगतम् ।

'ग' 'घ' इतिसंज्ञिते द्वे--रावसाहेब विंचुरकर इत्येतेभ्योऽधिगते ।

'ङ' 'च' इतिसंज्ञिते द्वे--पुण्यनगरवासिभ्यः श्रीगुरुमहाराज इत्येतेभ्योऽधिगते ।

'छ' इतिसंज्ञितम्—भाऊसाहेब नगरकर इत्येतेभ्योऽधिगतम् ।

'ज' इतिसंज्ञितम्--कोल्हापुरवासिभ्यः श्रीगुरुमहाराज इत्येतेभ्योऽधिगतम् ।

'झ' इतिसंज्ञितम्—काश्यां मुद्रितं रा० रा० आपटे इत्येतेभ्योऽधिगतम् ।

'ञ' इतिसंज्ञितम्—बटोदरनिवासिभ्यः ' कृष्णराव भीमाशंकर ' इत्येतेभ्योऽधिगतम् ।

'ट' इतिसंज्ञितम्--अष्टेग्रामनिवासिभ्यः ' गोविन्दराव लिमये ' —इत्येतेभ्योऽधिगतम् ।

×'ठ' इतिसंज्ञितम्--काठकोपनिषत् । गोपालेन्द्रयतीश्वरटीकायुतभाष्योपेता । नागपुरनिवासिनां श्रीयुतानां रा०रा० ' अप्पासाहेब बुटी ' इत्येतेषाम् ।

एतेषु ' क. ' ' झ. ' इति द्वे पुस्तके विहायेतराणि सर्वाणि हस्तलिखितान्येव । ' झ. ' इत्यस्य मुद्रणकालः संवत् १९३० इति वर्तते । ' क ' इत्यस्य गलितमुखपृष्ठत्वात्कालो न ज्ञायते किंतु तदाधुनिकमेव । ' ङ '

---

× इदं तु तत्स्वामिसकाशाच्छोधनकालादूर्ध्वं प्राप्तमतस्तदानन्दाश्रमस्थैरेव पण्डितैः समीक्ष्य तत्पाठान्तराणि स्वीकृतानि ।

इति संवित्तं शके १६७७ युवनामसंवत्सरे लिखितम्। 'ज.' इत्यस्य लेखनकालः संवत् १८७८ इति वर्तते। इतराणि सर्वाणि शकविहीनान्येव।

एतेषां साम्यभेदाभ्यां 'क, ख, ज' 'ग, घ, च' 'ङ, झ, ञ, ट' इति च त्रयो वर्गा भवन्ति। प्रथमो वर्गः कलिकातास्थानीय इत्यभिहितः। अन्तिमः काशीस्थानीयः। मध्यमस्य स्थानोल्लेखाभावान्नामकरणं कर्तुं न शक्यते। त्रिषु वर्गेषु 'घ, ज, झ, ञ, इति शुद्धान्युपलब्धानि। इतराण्यतीवाशुद्धान्यविश्वसनीयानि च। पाठभेदे शुद्धानां यत्रैकमत्यं स पाठः स्वीकृत एव। वैमत्ये तु वरीयस्त्वं 'घ, ञ' इत्येताभ्यां दत्तम्। एतयोर्विसंवादे यत्र बहूनां पक्षपातः स गृहीतः। तेन प्रायशो 'ग, घ, ङ, च, झ, ञ, ट' इत्येतेषां साहचर्यं दृष्टम्। सर्वथा शंकराचार्यकृतभाष्यस्याक्षरशः प्रत्युपस्थापने यत्नः कृतः स कियतांऽशेन सफलीभूत इति न निश्चीयते।

'छ' पुस्तके काठकोपनिषन्मूलमेव वर्तते। 'ग, घ, च' पुस्तकेषु भाष्यमेव। इतराणि समूलानि सभाष्याणि टीकायुक्तानि च 'ख, च, ज, पुस्तकान्यानन्दज्ञानकृतटीकायुक्तानि 'झ, ञ, ट' इत्येतानि च गोपालेन्द्रयतिकृतटीकासहितानि भवन्ति। आनन्दज्ञानकृतविवरणस्य काश्यां गोपालेन्द्रयतिना तस्यैव विस्तरः कृत इति तत्र तत्र टीकासाम्याद्भाति। आधुनिकमुद्रणे द्वे अपि टीके अर्थसौलभ्याय समावेशिते। पाठान्तराणि प्रतिपृष्ठमूले प्रकाशितानि।

वैजनाथ काशिनाथ राजवाडे,

## चतुर्थावृत्तिप्रस्ताविका।

द्वितीयावृत्तावस्यामुपनिषदर्थपरिशीलिनकर्तॄणामर्थसौलभ्यसंपादनाय तत्र तत्र भाष्य एवावतरणिकाया अग्रतो मूलं समावेशितम्। अथ च पूर्वावृत्तौ यद्यत्र यत्र शोधनकरणनियुक्तजनानामनवधानतया स्खलितमासीत्तदप्यत्र संशोध्य संस्कृतमिति विद्वद्भिरभ्यूहनीयम्। तथा प्रतिमन्त्रविभागाद्यप्रतीकवर्णानुक्रमोऽप्यत्र संगृह्य मुद्रितः। इत्यलमत्यल्पसूचिकया प्रस्ताविकया।

युष्मदीयः

आपटे इत्युपाह्वो नारायणतनूजो हरिशर्मा।

## काठकोपनिषदन्तर्गतमन्त्रप्रतीकानां वर्णानुक्रमणिका ।


| मन्त्रप्रतीकानि | अ० | व० | म० | पृ. |
|---|---|---|---|---|
| **अ.** | | | | |
| अग्निर्यथैको भुवनम् | २ | २ | ९ | ९९ |
| अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः | २ | १ | १२ | ८९ |
| ,, ,,... | ,, | ,, | १३ | ९० |
| ,, ,,... | ,, | ३ | १७ | १२४ |
| अजीर्यताममृतानाम् | १ | १ | २८ | २८ |
| अणोरणीयान्महतः | १ | २ | २० | ५२ |
| अनुपश्य यथा पूर्वे | १ | १ | ६ | १० |
| अन्यच्छ्रेयोऽन्यत् | १ | २ | १ | ३० |
| अन्यत्र धर्मादन्यत्र | १ | २ | १४ | ४६ |
| अरण्योर्निहितः... | २ | १ | ८ | ८६ |
| अविद्यायामन्तरे... | १ | २ | ५ | ३५ |
| अव्यक्तात्तु परः.... | २ | ३ | ८ | ११४ |
| अशब्दमस्पर्शम्.... | १ | ३ | १५ | ७५ |
| अशरीरꣳ शरीरेषु | १ | २ | २२ | ५५ |
| अस्तीत्येवोपलब्धव्यः | २ | ३ | १३ | १२० |
| अस्य विस्रंसमानस्य | २ | २ | ४ | ९६ |
| **आ.** | | | | |
| आत्मानꣳ रथिनम् | १ | ३ | ३ | ६१ |
| आशाप्रतीक्षे संगतꣳ | १ | १ | ८ | ११ |
| आसीनो दूरं व्रजति | १ | २ | २१ | ५३ |
| **इ.** | | | | |
| इन्द्रियाणां पृथग्भावम् | २ | ३ | ६ | ११३ |
| इन्द्रियाणि हयानाहुः | १ | ३ | ४ | ६२ |
| इन्द्रियेभ्यः परं मनः | २ | ३ | ७ | ११४ |
| इन्द्रियेभ्यः पराः | १ | ३ | १० | ६६ |
| इह चेदशकद्बोद्धुम् | २ | ३ | ४ | १११ |

| मन्त्रप्रतीकानि | अ० | व० | म० | पृ. |
|---|---|---|---|---|
| **उ.** | | | | |
| उत्तिष्ठत जाग्रत... | १ | ३ | १४ | ७३ |
| उशन्ह वै वाजश्रवसः | १ | १ | १ | ६ |
| **ऊ.** | | | | |
| ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाखः | २ | ३ | १ | १०७ |
| ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयति | २ | २ | ३ | ९५ |
| **ऋ.** | | | | |
| ऋतं पिबन्तौ सुकृत | १ | ३ | १ | ५८ |
| **ए.** | | | | |
| एको वशी सर्वभूता | २ | २ | १२ | १०२ |
| एतच्छ्रुत्वा संपरि० | १ | २ | १३ | ४५ |
| एतत्तुल्यं यदि मन्यसे | १ | १ | २४ | २५ |
| एतदालम्बनꣳ श्रेष्ठम् | १ | २ | १७ | ४८ |
| एतद्ध्येवाक्षरम्... | १ | २ | १६ | ४८ |
| एष तेऽग्निर्नचिकेतः | १ | १ | १९ | २० |
| एष सर्वेषु भूतेषु | १ | ३ | १२ | ७० |
| **का.** | | | | |
| कामस्याऽऽप्तिं जगतः | १ | २ | ११ | ४३ |
| **जा.** | | | | |
| जानाम्यहꣳ शेवधिः | १ | २ | १० | ४२ |
| **त.** | | | | |
| तꣳह कुमारꣳ सन्तम् | १ | १ | २ | ७ |
| तदेतदिति मन्यन्ते | २ | २ | १४ | १०५ |
| तमब्रवीत्प्रीयमाणः | १ | १ | १६ | १७ |
| तं दुर्दर्शं गूढम्... | १ | २ | १२ | ४४ |
| तां योगमिति मन्यन्ते | २ | ३ | ११ | ११७ |
| तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीः | १ | १ | ९ | १२ |

| मन्त्रप्रतीकानि | अ० | व० | म० | पृ० |
|---|---|---|---|---|
| त्रिणाचिकेतस्त्रयम् | १ | १ | १८ | १९ |
| त्रिणाचिकेतस्त्रिभिः | १ | १ | १७ | १८ |
| द. | | | | |
| दूरमेते विपरीते | १ | २ | ४ | ३४ |
| देवैरत्रापि विचि० | १ | १ | २१ | २२ |
| ,, ,, .... | ,, | ,, | २२ | २३ |
| न. | | | | |
| न जायते म्रियते वा | १ | २ | १८ | १९ |
| न तत्र सूर्यो भाति | २ | १ | १५ | १०५ |
| न नरेणावरेण... | १ | २ | ८ | ३८ |
| न प्राणेन नापानेन | २ | २ | ५ | ९६ |
| न वित्तेन तर्पणीयः | १ | १ | २७ | २७ |
| न संदृशे तिष्ठति | २ | ३ | ९ | ११५ |
| न सांपरायः प्रति० | १ | २ | ७ | ३६ |
| ना. | | | | |
| नाचिकेतमुपाख्यानम् .... | १ | ३ | १६ | ७७ |
| नायमात्मा प्रवचेन | १ | २ | २३ | ५५ |
| नाविरतो दुश्चरितात् | १ | २ | २४ | ५७ |
| नि. | | | | |
| नित्यो नित्यानाम् | २ | २ | १३ | १०३ |
| नै. | | | | |
| नैव वाचा न मनसा | २ | ३ | १२ | ११८ |
| नैषा तर्केण मतिः | १ | २ | ९ | ४१ |
| प. | | | | |
| पराचः कामाननु | २ | १ | २ | ८१ |
| पराञ्चि खानि व्यतृणत् | २ | १ | १ | ७८ |
| पी. | | | | |
| पीतोदका जग्धतृणा | १ | १ | ३ | ७ |

| मन्त्रप्रतीकानि | अ० | व० | म० | पृ० |
|---|---|---|---|---|
| पु. | | | | |
| पुरमेकादशद्वारम् | २ | २ | १ | ९२ |
| प्र. | | | | |
| प्र ते ब्रवीमि तदु | १ | १ | १४ | १५ |
| ब. | | | | |
| बहूनामेमि प्रथमः | १ | १ | ५ | ९ |
| भ. | | | | |
| भयादस्याग्निस्तपति | २ | ३ | ३ | १११ |
| म. | | | | |
| मनसैवेदमाप्तव्यम् | २ | १ | ११ | ८९ |
| महतः परमव्यक्तम् | १ | ३ | ११ | ६९ |
| मृ. | | | | |
| मृत्युप्रोक्तां नाचिकेतः | २ | ३ | १८ | १२४ |
| य. | | | | |
| य इमं परमम् .... | १ | ३ | १७ | ६७ |
| य इमं मध्वदम् | २ | १ | ५ | ८४ |
| य एष सुप्तेषु जागर्ति | २ | २ | ८ | ९९ |
| यच्छेद्वाङ्मनसी | १ | ३ | १३ | ७२ |
| यतश्चोदेति सूर्यः | २ | १ | ९ | ८७ |
| यथाऽऽदर्शे तथा | २ | ३ | ५ | ११२ |
| यथा पुरस्ताद्भविता | १ | १ | ११ | १३ |
| यथोदकं दुर्गे वृष्टम् | २ | १ | १४ | ९० |
| यथोदकं शुद्धे शुद्धम् | २ | १ | १५ | ९१ |
| यदा पञ्चावतिष्ठन्ते | २ | ३ | १० | ११६ |
| यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते | २ | ३ | १५ | १२२ |
| यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते | २ | ३ | १४ | १२१ |
| यदिदं किंच जगत्सर्वम् | २ | ३ | २ | ११० |
| यदेवेह तदमुत्र | २ | १ | १० | ८७ |

| मन्त्रप्रतीकानि | अ० | व० | म० | पृ० |
|---|---|---|---|---|
| यस्तु विज्ञानवान् | २ | ३ | ६ | ६४ |
| ,, ,,.... | २ | ३ | ८ | ६५ |
| यस्त्वविज्ञानवान् | १ | ३ | ५ | ६३ |
| ,, ,, | १ | ३ | ७ | ६४ |
| यस्मिन्निदं विचि० | १ | १ | २९ | २९ |
| यस्य ब्रह्म च क्षत्त्रम् | १ | २ | २५ | ५७ |
| यः पूर्वं तपसः.... | २ | १ | ६ | ८५ |
| यः सेतुरीजानानाम् | १ | ३ | २ | ६० |
| **या.** | | | | |
| या प्राणेन संभवति | २ | १ | ७ | ८६ |
| **ये.** | | | | |
| येन रूपं रसम्.... | २ | १ | ३ | ८२ |
| येयं प्रेते विचिकित्सा | १ | १ | २० | २१ |
| ये ये कामा दुर्लभाः | १ | १ | २५ | २५ |
| **यो.** | | | | |
| योनिमन्ये प्रपद्यन्ते | २ | २ | ७ | ९८ |
| **लो.** | | | | |
| लोकादिमग्निम् | १ | १ | १५ | १६ |
| **वा.** | | | | |
| वायुर्यथैको भुवनम् | २ | २ | १० | १०१ |
| विज्ञानसारथिर्यस्तु | १ | ३ | ९ | ६५ |
| वैश्वानरः प्रविशति | १ | १ | ७ | ११ |
| **श.** | | | | |
| शतं चैका च हृदयस्य | १ | ३ | १६ | १२३ |
| शतायुषः पुत्रपौत्रान् | १ | १ | २३ | २४ |
| शान्तसंकल्पः सुमनाः | १ | १ | १० | १३ |
| **श्र.** | | | | |
| श्रवणायापि बहुभिः | १ | २ | ७ | ३७ |
| श्रेयश्च प्रेयश्च | १ | २ | २ | ३२ |
| श्वोभावा मर्त्यस्य | १ | १ | २६ | २६ |
| **स.** | | | | |
| स त्वमग्निं स्वर्ग्यम् | १ | १ | १३ | १५ |
| स त्वं प्रियान्प्रियरूपा | १ | २ | ३ | ३३ |
| सर्वे वेदा यत्पदम् | १ | २ | १५ | ४७ |
| सह नाववतु | २ | ३ | १९ | १२५ |
| स होवाच पितरम् | २ | १ | ४ | ८ |
| **सू.** | | | | |
| सूर्यो यथा सर्वलोक | २ | २ | ११ | १०१ |
| **स्व.** | | | | |
| स्वप्नान्तं जागरिता | २ | १ | ४ | ८४ |
| स्वर्गे लोके न भयम् | १ | १ | १२ | १४ |
| **ह.** | | | | |
| हंसः शुचिषद्वसुः | २ | २ | २ | ९३ |
| हन्त त इदं प्रव० | २ | २ | ६ | ९८ |
| हन्ता चेन्मन्यते | १ | २ | १९ | ५१ |


समाप्ता चेयं मन्त्रप्रतीकवर्णानुक्रमणी ।

ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः ।

---

# आनन्दगिरिगोपालयतीन्द्रविरचितटीकाद्वयसंवलितेन श्रीमच्छांकरभाष्येण समेता

# काठकोपनिषत् ।

---

ॐ सह नाविति शान्तिः ।

ॐ नमो भगवते वैवस्वताय मृत्यवे ब्रह्मविद्याचार्याय नचिकेतसे च ।

---

आ० टी०—धर्माधर्माद्यसंसृष्टं कार्यकारणवर्जितम् ॥
कालादिभिरविच्छिन्नं ब्रह्म यत्तन्नमाम्यहम् ॥ १ ॥

यः साक्षात्कृतपरमानन्दो यावदधिकारं याम्ये पदे वर्तमानोऽकर्तृब्रह्मात्मतानुभवबलतो भूतयातननिमित्तदोषैरलिप्तस्वभाव आचार्यो वरप्रदानेन परब्रह्मात्मैक्यविद्यामुपदिदेश यस्मै चोपदिदेश ताभ्यां नमस्कुर्वन्नाचार्यभक्तेर्विद्याप्राप्त्यङ्गत्वं दर्शयति—ॐ नमो भगवते वैवस्वतायेति ।

---

गो० टी०—ब्रह्माद्वयं परानन्दं धर्मादीनामगोचरम् ।
कार्यकारणनिर्मुक्तं शिवं परमुपास्महे ॥ १ ॥
नत्वा देवमुमाजानिं स्मृत्वा गुरुपदाम्बुजम् ।
ध्यात्वा गौरीमहं कुर्वे कठभाष्यविवेचनम् ॥ २ ॥
क्व भाष्यमतिगम्भीरं क्व चाहं मन्दबुद्धिगः ।
तथाऽपि गुरुवर्याणां पादसंस्मृतितो यते ॥ ३ ॥

भगवान्भाष्यकारो यमनचिकेतःसंवादरूपेण प्रवृत्ताः कठवल्लीर्व्याचिख्यासुश्चिकीर्षितस्य भाष्यस्य निर्विघ्नपरिसमाप्त्यादिप्रयोजनाय ब्रह्मविद्याचार्यनतिलक्षणं मङ्गलमाचरन्नादौ यमं नमस्करोति—नम इति । मृत्यवे नम इत्यन्वयः । ननु न यमो नमस्कार्यो मारयतीति मृत्युरिति व्युत्पत्त्या भूतयातनादिकर्तृत्वेन दोषवत्त्वान्निर्दुष्टो ह्याचार्यो नाम भवतीत्याशङ्क्याऽऽह—भगवत इति । उत्पत्तिं च विनाशं च भूतानामागतिं गतिम् । वेत्ति विद्यामविद्यां च स वाच्यो भगवानिति ॥ इतिस्मृतेर्यमः करतलीकृतब्रह्मतत्त्वोऽपि यावदधिकारं याम्ये पदे वर्तमानः प्रारब्धमतिवाहयन्नकर्तृब्रह्मात्मतानुभवबलतो भूतयातनादि-

---

१ ख. ट. ठ. °न्ति । शं नो मित्रः शं वरुण इति शान्तिः । ॐ । २ ष. ङ. °मो वै° ।

दोषैरश्लिष्टस्वभाव इति युक्तं तस्य नमस्कार्यत्वमिति भावः। तस्य हिरण्यगर्भात्मकसूर्यप्रभवत्वेन महत्त्वं दर्शयति—**वैवस्वतायेति**। विवस्वतोऽपत्यं पुमान्वैवस्वतस्तस्मै वैवस्वताय भगवते ब्रह्मविद्याचार्याय मृत्यवे नम इत्यन्वयः। एवं यमनतिं कृत्वा वरप्रदानेन यस्मै यमो नचिकेतसे ब्रह्मविद्यां प्राह यस्माच्च ब्रह्मविद्या लोके वृद्धिं गता तं नमस्करोति—**नचिकेतस इति**। नम इति संबन्धः। चकारो मङ्गलद्वयसमुच्चयद्वारा भक्तेर्विद्याप्राप्त्यङ्गत्वसूचकः।

---

**अथ काठकोपनिषद्वल्लीनां सुखार्थं[1]प्रबोधनार्थ[2]मल्पग्रन्था[3] वृत्तिरारभ्यते। सदेर्धातोर्विशरणगत्यवसादनार्थस्योपनिपूर्वस्य क्विप्प्रत्ययान्तस्य रूपमुपनिषदिति। उपनिषच्छब्देन च व्याचिख्यासितग्रन्थप्रतिपाद्यवेद्यवस्तुविषया विद्योच्यते। केन पुनरर्थयोगेनोपनिषच्छब्देन विद्योच्यत इत्युच्यते। ये मुमुक्षवो दृष्टानु[4]श्रविकविषयवितृष्णाः सन्त उपनिषच्छब्दवाच्यां वक्ष्यमाणलक्षणां विद्यामुपसद्योपगम्य तन्निष्ठतया निश्चयेन शीलयन्ति तेषामविद्यादेः संसारबीजस्य विशरणाद्धिंसनाद्विनाशनादित्यनेनार्थयोगेन विद्योपनिषदित्युच्यते। तथा च वक्ष्यति—" निचाय्य तं मृत्युमुखात्प्रमुच्यते " इति।**

---

आ० टी०-अथ शब्दो मङ्गलार्थः। चिकीर्षितं प्रतिजानीते—**काठकेति**। ननूपनिषदो वृत्तिर्नाऽऽरब्धव्या प्राणिनां कामकलुषितचेतसामुपनिषच्छ्रवणात्पराङ्मुखत्वाद्विशिष्टस्याधिकारिणो दुर्निरूपत्वाद्ब्रह्मणश्च सत्यस्य कर्मभ्य एव निवृत्तेरुपनिषज्जन्यविद्याया निष्प्रयोजनत्वाज्जीवस्य च संसारिब्रह्मात्मतायाः प्रतिपादयितुमशक्यत्वेन निर्विषयत्वाच्चेत्याशङ्क्योपनिषच्छब्दनिर्वचनेन विद्याया विशिष्टाधिकार्यादिमत्त्वप्रदर्शनेन तज्जनकस्य ग्रन्थस्यापि विशिष्टाधिकार्यादिमत्त्वेन व्याख्येयत्वं दर्शयितुं प्रथममुपनिषच्छब्दस्वरूपसिद्धिं तावदाह-**उपनिपूर्वस्येति**। ब्रह्मविद्यायामुपनिषच्छब्दस्योपनिषदं भो ब्रूहीत्यादिप्रयोगदर्शनाद्वाक्यार्थमाह—**उपनिषच्छब्देनेति**। लक्षणावृत्त्यैव प्रयोगसंभवे समुदायशक्तिरुपनिषच्छब्दस्य न कल्पनीयेत्याह—**केन पुनरिति**। षद्लृ विशरणगत्यवसादनेष्विति धातोर्विशरणमर्थमादाय योगवृत्तिमाह—**उच्यत इति**। विषयेषु क्षयिष्णुत्वादिदोषदर्शनाद्विरक्ताः केचन मुमुक्षवः प्रसिद्धा न सर्वे भवादृशाः कामुका एवेति यच्छब्देन प्रसिद्धिद्योतकेन कथयति। आनुश्रविकाः शब्दप्रतिपन्नाः स्वर्गभोगादयः। **उपसद्येति**। आचार्योपदेशाल्लब्ध्वा यावत्साक्षात्कारं शीलयन्ति संसार्यसंसार्यैक्यासंभावनादि निरस्यन्तीत्यर्थः।

---

१ ज ट सुखेनार्थबो°। २ ग. च. °र्थप्रतिबोधनम°। ३ ख. ड. °बोधनम°। ४ ङ. भ. ठ. °ग्रन्थवृ°। ५ ङ. झ. ञ. ठ. °च्यतेऽप्रोच्य°। ६ ड. च झ. भ. °नुश्रावि°। ७ ङ. झ. भ. ढ. °च्छब्देन वा°। ८ ग. च. °ष्ठया। ९ ग. ठ. °णाद्विशसनाद्वि°।

गो० टी०—यदर्थं मङ्गलाचरणं कृतं तत्प्रतिजानीते—**अथेत्यादिना** । अथ-
शब्दो मङ्गलार्थः । काठकोपनिषद्वल्लीनां मृत्युनाचिकेतःसंवादपरिसमाप्तिपर्यन्ता काठको-
पनिषत् । तदेकदेशा वल्ल्यो लताः कल्पलतावदभीष्टफलदाः । तासां वृत्तिर्भाष्यं तल्ल-
क्षणसत्त्वादारभ्यते प्रक्रम्यत इत्यर्थः । ननु भर्तृप्रपञ्चादिभिरेव व्याख्यातत्वान्नाऽऽरम्भ-
णीया वृत्तिरित्यत आह—**अल्पग्रन्थेति** । अन्येषां शब्दतो बहुत्वादर्थतश्च न्यूनत्वा-
त्तैरगतार्थं भाष्यम् । अल्पा ग्रन्थाः शब्दा यस्याः सा तथोक्ता । ननु 'अत्ता चराच-
रग्रहणात्' इत्यादिभिरधिकरणैरेव निर्णीतार्थत्वादुपनिषन्न व्याख्येयेत्यत आह—**सुखा-
र्थेति** । सुखेनानायासेनार्थस्य वाक्यार्थस्य प्रबोधनार्थं सम्यग्ज्ञानाय पदार्थज्ञानपूर्वकवा-
क्यार्थज्ञानायेति यावत् । ननूपनिषदो वृत्तिर्नाऽऽरब्धव्याऽधिकारिप्रयोजनविषयसंबन्धा-
नामभावात् । तथा हि—प्राणिनां कामकलुषितचेतसामुपनिषच्छ्रवणात्पराङ्मुखत्वेन विवे-
कादिमतोऽधिकारिणो दुर्लभत्वादुपनिषद्भिः कर्तृत्वादिविशिष्टजीवस्यासंसारिब्रह्मात्म-
तायाः प्रतिपादयितुमशक्यत्वेन ब्रह्मात्मैक्यविषयाभावादेव प्रयोजनमपि न लभ्यते
बन्धस्य सत्यत्वेन[1] विद्यायास्तन्निवर्तकत्वायोगात्कर्मभिरेव तन्निवृत्तेः संभवाच्चात एव
संबन्धो नेत्याशङ्क्योपनिषच्छब्दनिर्वचनेन विद्याया विशिष्टाधिकार्यादिमत्त्वप्रदर्शनेन
तज्जनकग्रन्थस्यापि विषयादिमत्त्वं दर्शयितुमादावुपनिषच्छब्दस्वरूपनिष्पत्तिप्रकारं ताव-
दाह—**उपनिपूर्वस्येति** । शिथिलीकरणप्राप्तिनाशार्थकस्य क्विबिति प्रत्ययोऽन्ते यस्य
स तथा । तस्य सदेर्धातोरुपपूर्वस्य निपूर्वस्य रूपं निष्पन्नशब्दस्वरूपमुपनिषदित्यर्थः ।
एवमुपनिषच्छब्दस्वरूपं निरुच्योपनिषदं भो ब्रूहीत्यादौ ब्रह्मविद्यायामुपनिषच्छब्दप्रयो-
गदर्शनादुपनिषच्छब्देन ब्रह्मविद्योच्यत इत्याह—**उपनिषच्छब्देनेति** । उक्तश्रुतिप्र-
सिद्धिद्योतकश्चशब्दः । व्याख्यातुमिष्टो ग्रन्थ उपनिषद्रूपस्तस्य प्रतिपाद्यमधिकारिणश्च
वेद्यं यद्वस्तु ब्रह्मात्मैक्यं तद्विषयो यस्याः सा तथा । ननूपनिषच्छब्देन विद्या किं समु-
दायशक्त्याऽभिधीयत उतावयवशक्त्या । नाऽऽद्यः । लोके विद्यायामुपनिषच्छब्दस्य
प्रयोगाभावेन समुदायशक्तेरक्लृप्तत्वात्कल्प्यायाश्च क्लृप्तावयवशक्त्या बाध्यत्वात् । न
द्वितीयः । योगवृत्तेरन्यत्रापि संभवादिति शङ्कते—**केनेति** । अर्थयोगोऽर्थसंबन्धस्तेन
कमर्थसंबन्धमादायोपनिषच्छब्देन विद्योच्यत इत्यर्थः । उक्तरीत्या न समुदायार्थो नाप्य-
वयवार्थ इति भावः । षद्लृ विशरणगत्यवसादनेष्विति स्मृतेरुपनिषच्छब्दस्यावयव-
वृत्तिं विद्यायां दर्शयिष्यामित्याह—**उच्यत इति** । प्रथममुपशब्दलक्ष्यार्थमाह—**य इति** ।
दृष्टाः प्रत्यक्षेण स्रक्चन्दनवनितादयः शब्दश्रवणमनुगम्या आनुश्रविकाः । ते च ते
विषयाश्च तेभ्यः क्षयिष्णुत्वसातिशयत्वादिभिर्हेतुभिर्विगता तृष्णाऽऽशा येषां ते तथा-
रूपाः सन्तः । इदमुपलक्षणं शमादेः । मुमुक्षवो मोक्षेच्छवः प्रसिद्धाः । शान्तो दान्त
इत्यादौ वक्ष्यमाणलक्षणं स्वरूपं यस्याः सा तां विद्यामुपसद्योपगम्य प्राप्येत्यर्थः । निश-

---

१ म. सिद्धत्वेन । ट. सत्त्वेन ।

त्यदर्थमाह—तन्निष्ठतयेति । तस्यां निष्ठाऽनन्यव्यापारता येषां ते तन्निष्ठास्तेषां भावस्तन्निष्ठता तया निश्चयेन फलावश्यकत्वबुद्ध्या शीलयन्त्यसंसारैक्यासंभावनां निरस्यन्ति साक्षात्कारपर्यन्तामित्यर्थः । धात्वर्थद्वयं संगृह्याऽऽह—तेषामिति । संसारबीजस्य कर्तृत्वादिकारणस्याविद्यादेरादिपदेन कामकर्मादिपरिग्रहः । विशरणादित्यस्य व्याख्यानं विशसनादिति । शिथिलीकरणादित्यर्थः । अवसादनार्थमाह—विनाशनादिति । उक्तार्थमुपसंहरति—इत्यनेनेति । उक्तेऽर्थे श्रुतिं प्रमाणयति—तथा चेति ।

---

पूर्वोक्तविशेषणान्मुमुक्षून्वा परं ब्रह्म गमयतीति ब्रह्मगमयितृत्वेन योगाद्ब्रह्मविद्योपनिषत् । तथा च वक्ष्यति—“ब्रह्म प्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युः” इति । लोकादिर्ब्रह्मजज्ञो योऽग्निस्तद्विषयाया विद्याया द्वितीयेन वरेण प्रार्थ्यमानायाः स्वर्गलोकफलप्राप्तिहेतुत्वेन गर्भवासजन्मजराद्युपद्रववृन्दस्य लोकान्तरे पौनःपुन्येन प्रवृत्तस्यावसादयितृत्वेन शैथिल्यापादनेन धात्वर्थयोगादग्निविद्याऽप्युपनिषदित्युच्यते । तथा च वक्ष्यति—“स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्ते” इत्यादि । ननु[३] चोपनिषच्छब्देनाध्येतारो ग्रन्थमप्यभिलपन्ति[२] । उपनिषदमधीमहेऽध्यापयाम[३] इति च । एवं[४] नैष दोषोऽविद्यादिसंसारहेतुविशरणादेः[५] सदिधात्वर्थस्य ग्रन्थमात्रेऽसंभवाद्विद्यायां च संभवात् । ग्रन्थस्यापि तादर्थ्येन तच्छब्दत्वोपपत्तेः । आयुर्वै घृतमित्यादिवत् । तस्माद्विद्यायां मुख्यया वृत्त्योपनिषच्छब्दो वर्तते ग्रन्थे तु[६] भक्त्येति । एवमुपनिषन्निर्वचनेनैव[७] विशिष्टोऽधिकारी विद्यायामुक्तः[८] । विषयश्च विशिष्ट उक्तो विद्यायाः परं ब्रह्म प्रत्यगात्मभूतम् । प्रयोजनं चास्या उपनिषद आत्यन्तिकी संसारनिवृत्तिर्ब्रह्मप्राप्तिलक्षणा । संबन्धश्चैवंभूतप्रयोजनेनोक्तः । अतो यथोक्ताधिकारिविषयप्रयोजनसंबन्धाया[९] विद्यायाः करतलन्यस्तामलकवत्प्रकाशकत्वेन विशिष्टाधिकारिविषयप्रयोजनसंबन्धा एता वल्ल्यो भवन्तीति ।

---

आ० टी०—गत्यर्थमादायाऽऽह—पूर्वोक्तेति । अग्निविद्यायामप्यवसादनमादायोपनिषच्छब्दस्य वृत्तिमाह—लोकादिरिति । भूरादिलोकानामादिः प्रथमजो ब्रह्मणो जातो ब्रह्मजः स एव जानातीति ज्ञः । ग्रन्थे तु भक्त्येत्युपचारेणोपनिषच्छब्दप्रयोग इत्यर्थः ।

---

१ घ. ननूप° । २ ख. °लपन्ति । ३ ग. च. °हेऽध्यापयामह इ° । ४ ग. च. नैव । ५ क. ज. °णादेर्धात्व° । ग. घ. च. °णात्सदेर्धात्व° । ६ क. ख. ज. °तु भाक्तये° । ग. ङ. झ. ञ. ट. तु भाक्त इति । ७ ङ. झ. म. ट. °षच्छब्दनिर्व° ८ । क. ख. ज. या उक्तः । ९ ङ. झ. म. ट. °संबन्धप्रयोजनायाः ।

उपनिषच्छब्दनिर्वचनेन सिद्धमर्थमाह—**एवमित्यादिना** । आत्यन्तिकी निदाननिवृत्त्या निवृत्तिर्विवक्षिता । निदानं चान्वयव्यतिरेकशास्त्रन्यायेभ्यः संसारस्याऽऽत्मैकत्वाविद्या । सा च न कर्मणा विनिवर्ततेऽतो विद्यया । प्रयोजनेन साध्यसाधनलक्षणः संबन्ध इत्यर्थः ।

---

**गो० टी०**—सदेर्गत्यर्थमादायाऽऽह—**पूर्वोक्तेति** । कर्तृत्वाद्यनर्थमूलामविद्यां निहत्य पूर्वोक्तविशेषणान्साधनचतुष्टयसंपन्नान्सारयति परब्रह्म गमयतीति व्युत्पत्त्या ब्रह्मगमयितृत्वयोगेन योगात्संबन्धाद्ब्रह्मविद्योपनिषच्छब्देनोच्यत इत्यर्थः । उक्तेऽर्थे व्याख्येयश्रुतिवाक्यं प्रमाणयति—**तथा चेति** । विद्यया ब्रह्म प्राप्तो विगतं रजो यस्मात्स विरजोऽज्ञानशून्योऽभूत् । अत एव कार्यनिवृत्तिरित्याह—**विमृत्युरिति** । मृत्योर्मरणोपलक्षितसंसाराद्विगत इत्यर्थः । ननु व्याचिख्यासितग्रन्थप्रतिपाद्यविद्योपनिषच्छब्देनोच्यत इत्युक्तम् । तथात्वेऽग्निविद्याप्रकाशनानुपपत्तेरित्याशङ्क्य सदेरग्निविद्यायामवसादनविशरणार्थावादायोपनिषच्छब्दस्य वृत्तिमाह—**लोकादिरिति** । लोकानामादिः प्रथमजो ब्रह्मणो जातो ब्रह्मजः स एव जानातीति ज्ञस्तद्विषयाया अग्निविषयायाः । जरादीत्यादिपदेन मरणादिसंग्रहः । वृन्दस्य समूहस्यावसादयितृत्वेन धात्वर्थयोगादग्निविद्याऽप्युपनिषच्छब्देनोच्यत इत्यन्वयः । इतरक्रियातो वैषम्याह—**लोकान्तर इति** । उक्तेऽर्थे वाक्यशेषं प्रमाणयति **तथा चेति** । स्वर्गलोका यजमाना अमृतत्वं देवत्वं भजन्ते प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । उपनिषच्छब्दस्य ग्रन्थेऽध्यापकाध्येतृप्रसिद्धिविरोधं शङ्कते—**नन्विति** । प्रथमचकार एवकारार्थः क्रियान्वयी । द्वितीयः प्रयोगद्वयसमुच्चयार्थः । उपपादितयोगार्थस्य विद्यायामेव संभवात्सैव तच्छब्देनोच्यत इति परिहरति—**नैष दोष इति** । प्रतिज्ञायां हेतुमाह—**अविद्येति** । अविद्याकामकर्मेत्येवमादिर्यः संसारस्तस्य कर्तृत्वादेर्हेतुस्तस्य विशरणादेरादिपदेन गत्यवसादनयोर्ग्रहणं भवति । ननु ग्रन्थे प्रयोगः कथमित्यत आह—**ग्रन्थस्यापीति** । **तादर्थ्येनेति** । सोऽर्थः प्रयोजनं यस्य स तदर्थस्तस्य भावस्तादर्थ्यं तज्जनकत्वेनेति यावत् । स शब्द उपनिषदिति यस्य स तच्छब्दस्तस्य भावस्तच्छब्दत्वं तस्योपपत्तेः संभवादित्यर्थः । तज्जनके तच्छब्दप्रयोगे दृष्टान्तमाह—**आयुरिति** । आयुष्प्रदे घृत आयुष्पदवदित्यर्थः । उपसंहरति—**तस्मादिति** । ग्रन्थे तु भक्त्येति । लक्षणयोपनिषच्छब्दप्रयोग इत्यर्थः । उपनिषच्छब्देन सिद्धमर्थमाह—**एवमित्यादिना** । उपनिषन्निर्वचनमुपनिषच्छब्दस्य योगार्थकथनं तेन विशरणावसादनार्थानुगमेन विद्याया विवेकादिविशेषणविशिष्टोऽधिकार्युक्तो गत्यर्थानुगमेन मुमुक्षुशब्दितत्वंपदलक्ष्यप्रत्यगात्मभूतं परं ब्रह्म विद्याया विशिष्टाऽसाधारणो विषय उक्तोऽस्या विद्यायाः प्रयोजनं चाविद्यानिवृत्तिद्वारा संसारनिवृत्तिरात्यन्तिक्यारोपिताभावस्याधिष्ठानात्मकत्वेन ब्रह्मप्राप्तिलक्षणा निवृत्तिः । अथवा ब्रह्मप्राप्तेस्तद्रूपनिरतिशयानन्दप्राप्तेर्लक्षणा ज्ञापिकेत्यर्थः । संबन्ध-

माह—संबन्धश्चेति । एवंभूतप्रयोजनेन संसारनिवृत्त्यादिप्रयोजनेन । संबन्ध उक्तो ज्ञानादीनामिति शेषः। अयं भावो न हि सर्वो लोकः कामादिपरतन्त्रस्तद्वदनेकजन्मार्जितसुकृतपरिपाकाच्छुद्धसत्त्वस्याधिकारिणः कस्यचित्संभवाद्बन्धस्य च मिथ्यात्वेनाविद्याकल्पितत्वात्कर्मभिर्निवृत्त्ययोगादन्वयव्यतिरेकाभ्यां शुक्तितत्त्वज्ञानेनैव रजतभ्रान्तेर्न्यायेन शास्त्रेण च ज्ञानेनैव बन्धनिवृत्तेरत एवाकर्तृब्रह्मात्मैक्यविषयस्यापि संभवः। एवं ज्ञानेनाविद्यानिवृत्तेर्जन्यजनकभावः संबन्ध इत्यादूहनीयमित्यधिकारिविषयप्रयोजनसंबन्धत्वेन विद्यायास्तज्जनकवल्लीनामपि तैः संबन्धादधिकार्यादिमत्त्वमित्यभिप्रेत्याऽऽह—अत इति । प्रकाशकत्वेन जनकत्वेन । विशिष्टेति । विशिष्टान्यधिकारिविषयप्रयोजनानि तैः संबद्धा एता व्याख्येयत्वेन बुद्धिस्थाः । तासां व्याख्येयत्वमुपसंहरति— इत्यत इति ।

अतस्ता यथाप्रतिभानं व्याचक्ष्महे—

ॐ उशन्ह वै वाजश्रवसः सर्ववेदसं ददौ ।
तस्य ह नचिकेता नाम पुत्र आस ॥ १ ॥

तत्राऽऽख्यायिका विद्यास्तुत्यर्था । उशन्कामयमानो ह वा इति वृत्तार्थस्मरणार्थौ निपातौ वाजमन्नं तद्दानादिनिमित्तं श्रवो यशो यस्य स वाजश्रवा रूढितो वा तस्यापत्यं वाजश्रवसः किल विश्वजिता सर्वमेधेनेजे तत्फलं कामयमानः । स तस्मिन्क्रतौ सर्ववेदसं सर्वस्वं धनं ददौ दत्तवान् । तस्य यजमानस्य ह नचिकेता नाम पुत्रः किलाऽऽस बभूव ॥ १ ॥

आ० टी०—वश कान्तावित्यस्य शत्रन्तं रूपमुशन्निति । श्रवः कीर्तिः । सर्वमेधेन सर्वस्वदक्षिणेनेजे यजनं कृतवानित्यर्थः । सदसि यज्ञसभायां येऽन्ये मिलिता ब्राह्मणास्तेभ्यश्च ॥ १ ॥

गो० टी०—औद्धत्यं परिहरति—यथेति । यथाप्रतिभानं यथाज्ञानं व्याचक्ष्महे व्याख्यानं कुर्महे । नन्वभ्यच्छेय इत्यारभ्यैवोपनिषद्व्याख्यानार्हा विद्याजनकत्वात्प्रथमायाश्चाऽऽख्यायिकारूपत्वेन विद्यानङ्गत्वादित्यत आह—आख्यायिकेति । विद्यायां प्रवृत्तिहेतुस्तुत्युपयोगित्वेन तदधिकारहेत्वग्निविद्याप्रतिपादकत्वेनाऽऽख्याया अपि व्याख्येयत्वमिति भावः । वश कान्तौ कान्तिरिच्छा । वशधातोः शतृप्रत्यय उशन्निति रूपं, वृत्तार्थो भूतार्थः । यशः कीर्तिः । रूढितो वा वाजश्रवा इत्यनुवर्तते । सर्वमेधेन सर्वस्वदक्षिणाकेनेजे यजनं कृतवानित्यर्थः । तत्फलं विश्वजितः फलम् । अर्थान्तरप्रसिद्ध्यवद्योती द्वितीयो निपातः ॥ १ ॥

१ क. ङ. म. ट. ह वै वृ° । २ क. ङ. °वो यस्य । ३ क. ख. ज. स चैत° । घ. स च त° । ४ ङ. म. °र्वस्वध° ।

तꣳ ह कुमारꣳ सन्तं दक्षिणासु नीयमानासु
श्रद्धाऽऽविवेश सोऽमन्यत ॥ २ ॥

तं ह नचिकेतसं कुमारं प्रथमवयसं सन्तमप्राप्तप्रजननशक्तिं बालमेव श्रद्धाऽऽस्तिक्यबुद्धिः पितुर्हितकामप्रयुक्ताऽऽविवेश प्रविष्टवती । कस्मिन्काल इत्याह—ऋत्विग्भ्यः सदस्येभ्यश्च दक्षिणासु नीयमानासु विभागेनोपनीयमानासु दक्षिणार्थासु गोषु स आविष्टश्रद्धो नचिकेता अमन्यत ॥ २ ॥

आ० टी०—॥२॥

गो०टी०—अप्राप्तप्रजननशक्तिमप्राप्ता प्रजनने प्रजोत्पादने शक्तिर्येन स तं श्रद्धाऽऽविवेशेत्यन्वयः । ननु गुर्वधीनः स्वार्थं न व्यापारयेदिति न्यायात्कथं स्वेष्टानुकूला श्रद्धेत्यत आह—पितुरिति । काम्यत इति कामो हितश्चासौ कामश्च हितकामः । स्वर्गादिरिति यावत् । तेन प्रयुक्ता जनिता जनकोद्देशज्ञानाधीनेत्यर्थः । प्रविष्टवतीति । स श्रद्धावाञ्जात इति भावः । दक्षिणास्वित्यादिवाक्यमाकाङ्क्षापूर्वकमपेक्षितं पूरयन्व्याकरोति—कस्मिन्निति । सदस्येभ्यश्चेति । ऋत्विग्भ्योऽन्ये सदसि यज्ञसभायां ये मिलितास्तेभ्यश्च विभागेनेत्येतस्यैतावदित्युपनीयमानासु दीयमानासु दक्षिणास्विति व्याचष्टे—दक्षिणार्थास्विति । विशेष्यं पूरयति—गोष्विति ऋत्विगादिभ्यो गोषु दीयमानासु तं श्रद्धाऽऽविवेशेत्यन्वयः ॥ २ ॥

पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः ।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान्स गच्छति ता ददत् ॥ ३ ॥

कथमित्युच्यते—पीतोदका इत्यादिना । दक्षिणार्था गावो विशेष्यन्ते । पीतमुदकं याभिस्ताः पीतोदकाः । जग्धं भक्षितं तृणं याभिस्ता जग्धतृणाः । दुग्धो दोहः क्षीराख्यो यासां ता दुग्धदोहाः । निरिन्द्रिया अप्रजननसमर्था जीर्णा निष्फला गाव इत्यर्थः[३] । यास्ता एवंभूता[४] गा ऋत्विग्भ्यो दक्षिणाबुद्ध्या ददत्प्रयच्छन्ननन्दा अनानन्दा असुखा नामेत्येतद्[५] ये ते लोकास्तान्स यजमानो गच्छति[६] ॥ ३ ॥

१ क. ख. 'स्तिक्यबु' । २ झ. म. 'न्यताऽऽलोचितवान् ॥२॥ ट. 'न्यताऽऽलोकितवान् ॥ २ ॥ ३ ख. ज. 'र्थः । यतस्ता । ४ झ. ञ. ट. 'ता ऋ' । ५ ग. च. 'नामान इत्ये' । ६ क. ख. ज. 'ति ता ददत् ॥ ३ ॥

आ० टी०—पीतमुदकं प्रागेव नोत्तरकाले पानशक्तिरप्यस्तीत्यर्थः ॥ ३ ॥

गो० टी०—मननप्रकारं प्रश्नपूर्वकमवतारयति—कथमित्यादिना । विशेष्यन्ते पीतोदकत्वादिविशेषेण संयुज्यन्ते । पीतमुदकं प्रागेव नोत्तरकाले पानशक्तिरप्यस्तीत्यर्थः । एवं दानोत्तरकाले तृणभक्षणे दोहने च न शक्तिरित्यर्थो द्रष्टव्यः । अप्रजननसमर्थाः प्रजनने वत्सप्रसवे सामर्थ्यशून्याः । निष्फला इति । शकृदपि द्रवीभूतमिति निष्फला इत्युच्यन्ते । यः प्रयच्छन्स गच्छतीत्यन्वयः । कानित्यपेक्षायामाह—त इति । तच्छब्दः प्रसिद्धार्थक इत्याह—य इति । प्रसिद्धा लोका इत्यर्थः । कीदृग्विधा इत्यपेक्षायामाह—अनन्दा इति । न नन्दा आनन्दयन्तीति नन्दाः सुखजनकास्ते न भवन्तीत्यनन्दास्तदाह—अनानन्दा असुखनामान इत्येतदिति ॥ ३ ॥

**स होवाच पितरं तत कस्मै मां दास्यसीति । द्वितीयं तृतीयं तꣳ होवाच मृत्यवे त्वा ददामीति ॥ ४ ॥**

तदेवं क्रत्वसंपत्तिनिमित्तं पितुरनिष्टं[1] फलं मया पुत्रेण सता निवारणीयमात्मप्रदानेनापि क्रतुसंपत्तिं कृत्वेत्येवं मत्वा पितरमुपगम्य स होवाच पितरं हे तत तात कस्मै, ऋत्विग्विशेषाय दक्षिणार्थं मां दास्यसि प्रयच्छसीत्येतत् । एवमुक्तेन[2] पित्रोपेक्ष्यमाणोऽपि द्वितीयं तृतीयमप्युवाच कस्मै मां दास्यसि कस्मै मां दास्यसीति । नायं कुमारस्वभाव इति क्रुद्धः सन्पिता तं ह पुत्रं किलोवाच मृत्यवे वैवस्वताय त्वा त्वां ददामीति ॥ ४ ॥

आ० टी०—॥ ४ ॥

गो० टी०—मननप्रकारमुपसंहरन्नुत्तरावाक्यमुपसंहरति—तदेवमित्यादिना । एवं पूर्वोक्तगोदक्षिणया क्रतोरसंपत्तिरसाङ्गता निमित्तं यस्य फलस्य तथा । पुत्रेण सता पुंनाम्नो नरकात्त्रायत इति व्युत्पत्तेः । सत्पुत्रेणेति यावत् । अपिशब्दो द्रव्यान्तरस्वात्मत्यागाभावयोः सूचकः । आत्मप्रदानेनापि क्रतुसंपत्तिं कृत्वा पुत्रेण सता मया पितुरनिष्टफलं निवारणीयमित्यन्वयः । दीर्घाभावश्छान्दस इत्याह—तातेति । दास्यसीति स नाचिकेताः पितरमुवाचेत्यन्वयः । एवं पूर्वोक्तवचसोक्तेन प्रेरितेन द्वितीयं द्वितीयवारं तृतीयं तृतीयवारं पुनः पुनरप्युवाचेत्यर्थः । किमित्यत आह—कस्मा इति । अपेक्षितं पूरयन्नुत्तरमवतारयति—नायमिति ॥ ४ ॥

1 ङ. भ. ट. 'निष्फ' । 2 क. ख. ञ. 'स्यसीति प्र' । 3 क. ख. घ. ज. 'क्तेनापि ।

बहूनामेमि प्रथमो बहूनामेमि मध्यमः । किंस्विद्यमस्य कर्तव्यं यन्मयाऽद्य करिष्यति ॥ ५ ॥

स एवमुक्तः पुत्र एकान्ते परिदेवयांचकार । कथमित्युच्यते—बहूनां शिष्याणां पुत्राणां वैमि गच्छामि प्रथमः सन्मुख्यया शिष्यादिवृत्त्येत्यर्थः । मध्यमानां च बहूनां मध्यमो मध्यमयैव वृत्त्यैमि । नाधमया कदाचिदपि । तमेवं विशिष्टगुणमपि पुत्रं मां मृत्यवे त्वा ददामीत्युक्तवान्पिता स किंस्विद्यमस्य कर्तव्यं प्रयोजनं मया प्रत्तेन करिष्यति यत्कर्तव्यमद्य । नूनं प्रयोजनमनपेक्ष्यैव क्रोधवशादुक्तवान्पिता । तथाऽपि तत्पितुर्वचो मृषा मा भूदित्येवं मत्वा परिदेवनापूर्वकमाह पितरं शोकाविष्टं किं मयोक्तमिति ॥ ५ ॥

---

आ० टी०—यथावसरं गुरोरिष्टं ज्ञात्वा शुश्रूषणे प्रवृत्तिर्मुख्या । आज्ञावशेन मध्यमा । तदपरिपालनेनाधमा । मया दत्तेन यत्कर्तव्यमद्य यमस्य करिष्यति तत्किं कर्तव्यमासीत्साऽऽसीदेव विधानाभावात् । कथं तर्ह्युक्तवानित्यत आह—नूनमिति ॥ ५ ॥

---

गो० टी०—एवमुक्त इति । पित्रेति शेषः । परिदेवयांचकार दीर्घां चिन्तां कृतवानित्यर्थः । चिन्ताप्रकारं प्रश्नपूर्वकमवतारयति—कथमित्यादिना । बहूनां मुख्यवृत्तिमतामिति शेषः । मुख्यया यथावसरं ज्ञात्वा शुश्रूषणे प्रवृत्तिरूपयेत्यर्थः । शिष्यादीत्यादिपदेन पुत्रभार्यादयो गृह्यन्ते । मध्यमवृत्तिभाजां शिष्यादीनां मध्यमानाम् । चकारो वृत्तिद्वयं कालभेदेन नचिकेतसि विद्यत इति द्योतनार्थः । मध्यमयैवेति । आज्ञादिवशेन शुश्रूषणे प्रवृत्तिरूपयेत्यर्थः । नाधमया । आज्ञादिनापि तदशुश्रूषणेऽप्रवृत्तिरूपया । पित्रा देना कथितः कदाचिदप्यधमया नैमीति संबन्धः । एवं विशिष्टगुणं हीनवृत्तिरहितम् । मुख्यमध्यमवृत्तिभाजा गुणवतः पुत्रस्य मृत्यवे दानमनुचितमित्याह—अपि पुत्रमिति । मया प्रत्तेन दत्तेन द्वारा यत्कर्तव्यमद्य यमस्य करिष्यति तत्प्रयोजनं किं कर्तव्यमासीत्साऽऽसीदेव विधानाभावात् । कथं तर्ह्युक्तवानित्यत आह—नूनमिति । नूनं निश्चयः । अपेक्षितं पूरयन्नुत्तरमवतारयति—तथाऽपीति । तच्च पितुर्मृषा मा भूदित्येवं परिदेवनापूर्वकं किं मयोक्तमिति शोकाविष्टं पितरमाहेत्यन्वयः ॥ ५ ॥

---

१ ञ. °ध्यतीति । २ ञ. °णां वा शिष्यादीनां वै° ३ ग. च °नां वा व° । ४ क. ख. ग. घ. ञ. ङ. °वे द° । ५ ग. °या दत्ते° । ६ क. °न किं क° ७ ञ. ठ °द्वयमनुच्चयं का° । ८ ठ. °तः क° । ९ ठ. °भाज गु° ।

**अनुपश्य यथा पूर्वे प्रतिपश्य तथाऽपरे । सस्यमिव**
**मर्त्यः[7] पच्यते सस्यमिवाऽऽजायते पुनः ॥ ६ ॥**

अनुपश्याऽऽलोचय निभालयानु क्रमेण यथा येन प्रकारेण वृत्ताः पूर्वेऽतिक्रान्ताः पितृपितामहादयस्तव । तान्दृष्ट्वा च तेषां वृत्तमास्थातुम-र्हसि[1] वर्तमानाश्चापरे साधवो यथा वर्तन्ते तांश्च प्रतिपश्याऽऽलोचय तथा । न च [2]तेषु मृषाकरणं वृत्तं [3]वर्तमानं वाऽस्ति । तद्विपरीतमसतां च वृत्तं मृषा करणम्[4] । न च मृषा कृत्वा कश्चिदजरामरो[5] भवति । यतः सस्य-मिव मर्त्यो मनुष्यः पच्यते जीर्णो म्रियते । मृत्वा च[6] सस्यमिवाऽऽजा-यत आविर्भवति पुनरेवमनित्ये जीवलोके किं मृषाकरणेन । पालय-स्वाऽऽत्मनः सत्यम् । प्रेषय मां यमायेत्यभिप्रायः ॥ ६ ॥

आ० टी०—॥ ६ ॥

गो० टी०—निभालयेति । दीर्घालोचनं कुर्वित्यर्थः । उपसर्गं व्याचष्टे—अन्विति । क्रमेण । पितृपितामहाः क्रमेण वृत्ताः स्वधर्मे सत्यवचनादौ स्थिताः । तव पितृपितामहा येन प्रकारेण वृत्तास्तं प्रकारमालोचयेत्यन्वयः । तद्वृत्ता-लोचनेन मम किं स्यादित्यत आह—तानिति । वृत्तं सत्यवचनाद्यास्थातुं प्राप्तुमर्हसि योग्यो भवसीत्यर्थः । आलोचयेत्यनन्तरं तांश्च दृष्ट्वा तेषामपि वृत्तं प्राप्तुमर्हसीत्यनु-षङ्गः । न च तद्वृत्तमसत्यवचनादिसहितमित्याह—न चेति । वृत्तं भूतम् । ननु भूताभावेऽपि वर्तमानं भवति वा स्यादित्यत आह—वर्तमानमिति । वाशब्दोऽ-नुक्तभविष्यद्वृत्तसंग्रहार्थः । प्रत्यक्षादिप्रमाणविरोधात्तेष्वसद्वृत्तं नेति भावः । ननु मृषा-करणं चेद्देवत्वादिप्राप्तिहेतुस्तदा तत्त्यागोऽनुचित इत्याशङ्क्य तदेव नेत्याह—न चेति । तत्र हेतुत्वेन वाक्यमवतारयति—यत इति । सस्यमिवेति । यथा सस्यं फलितं रस-वियुक्तं नश्यत्येवं मनुष्योऽपि जीर्णो वृद्धावस्थां प्राप्य म्रियते देहं त्यजतीत्यर्थः । न केवलं जरामरणवानेव किंतु जनिमानपीत्याह—मृत्वा चेति । अवस्थाद्वयसमुच्च-यार्थश्चकारः । सस्यमिवेति । प्रावृट्काले वर्षधारासिक्तं सस्यं यथा प्रादुर्भवति तथा संचितकर्मोद्भवे मनुष्योऽपि देहान्तरं प्राप्नोतीत्यर्थः । पुनराविर्भवति म्रियते च यतोऽतो न कश्चिन्मृषा कृत्वाऽजरोऽमरो भवतीत्यन्वयः । प्रतिपदं व्याख्याय तात्पर्यार्थमाह—एव-मिति । किं प्रयोजनं न किमपीत्यर्थः । यमाय प्रेषय तद्वदात्मनः सत्यं पालयेत्य-न्वयः ॥ ६ ॥

१ झ. ञ. ठ. °र्हसीति व° । २ ग. ङ. च. झ. ञ. ट. तेषां । ३ ज. °नं भविष्यद्वाऽस्ति । ४ ग. घ. च. °रणं वा न । ५ ङ. झ. ञ. ठ. °जरोऽम° । ६ झ. ञ. ट. च ततः एव स° । ७ ख. ट. °जराम° ।

**वैश्वानरः प्रविशत्यतिथिर्ब्राह्मणो गृहान् ।**
**तस्यैताꣳ शान्तिं कुर्वन्ति हर वैवस्वतोदकम् ॥ ७ ॥**

स एवमुक्तः पिताऽऽत्मनः सत्यतायै प्रेषयामास । स च यमभवनं गत्वा तिस्रो रात्रीरुवास यमे प्रोषिते । प्रोष्याऽऽगतं यमममात्या भार्या वा ऊचुर्बोधयन्तो वैश्वानरोऽग्निरेव साक्षात्प्रविशत्यतिथिः सन्ब्राह्मणो गृहान्दहन्निव तस्य दाहं शमयन्त इवाग्नेरेतां पाद्यासनादिदानलक्षणां शान्तिं कुर्वन्ति सन्तोऽतिथेर्यतोऽतो हराऽऽहर हे वैवस्वतोदकं नचिकेतसे पाद्यार्थम् । यतश्चाकरणे प्रत्यवायः श्रूयते ॥ ७ ॥

आ० टी०—श्रुत्यनुक्तपूर्वभाषणादिकमपि कथायामपेक्षितं पूरयति—**स एव मुक्तः पितेति** ॥ ७ ॥

गो० टी०—श्रुत्यनुक्तपूर्वभाषणादिकं कथायामपेक्षितं पूरयति—**स एवमुक्त इति** । सत्यतायै वचःसत्यत्वाय । प्रोषिते ब्रह्मभवनं गते नचिकेता यमभवनं गत्वा तिस्रो रात्रीरुवासेत्यन्वयः । प्रोष्य ब्रह्मभवनं गत्वा तस्मादागतं यमं बोधयन्त ऊचुरित्यन्वयः । अतिथिः सन्ब्राह्मणः साक्षादग्निरिव[२] दहन्निव गृहान्प्रविशति । तस्याग्नेर्दाहं शमयन्त इव सन्तोऽतिथः शान्तिं कुर्वन्ति यत इत्यन्वयः । किमर्थमित्यपेक्षायामाह—**नचिकेतस इति** । नन्वतिथेः पूजा किमिष्टप्राप्तयेऽथानिष्टनिवृत्तये नोभयं मान भावादित्याशङ्क्य यथाग्निहोत्रामन्त्यादिश्रुतेरकरणे प्रत्यवायान्नित्यकर्मवत्करणेऽभ्युदय इति मत्वाऽऽह—**यत इति** । चकारः शिष्टाचारावगताभ्युदयहेतुत्वे समुच्चयार्थः ॥ ७ ॥

**आशाप्रतीक्षे संगतꣳ सूनृतां चेष्टापूर्ते पुत्रपशूꣳश्च सर्वान् । एतद्वृङ्क्ते पुरुषस्याल्पमेधसो यस्यानश्नन्वसति ब्राह्मणो गृहे ॥ ८ ॥**

आशाप्रतीक्षे अनिर्ज्ञातप्राप्येष्टार्थ[३]नाऽऽशा निर्ज्ञातप्राप्यार्थ[४]प्रतीक्षणं प्रतीक्षा ते आशाप्रतीक्षे । संगतं[५] तत्संयोगजं फलं सूनृतां च सूनृता[६] हि प्रिया वाक्तन्निमित्तं च । इष्टापूर्ते इष्टं याग[७]जं पूर्तमारामादिक्रियाजं फलम् । पुत्रपशूꣳश्च पुत्रांश्च पशूꣳश्च सर्वानेतत्सर्वं यथोक्तं वृङ्क्ते आवर्जयति विनाशयतीत्येतत् । पुरुषस्याल्पमेधसोऽल्पप्रज्ञस्य । यस्या-

---

१ घ. °गतममा° । २ ठ °ग्निरेव । ३ क ङ. च. °प्राप्तीष्टा° । ग. प्राप्त इष्टा° । ४ क ग. घ. ङ. च. °प्राप्यर्थ° । ५ ग. ङ. च. °गयो° । ६ ग. घ. ङ. झ. ञ. ट. °ता प्रि° । ७ झ. ञ. ट. यागादिजं ।

नश्नन्भुञ्जानो ब्राह्मणो गृहे वसति । तस्मादनुपेक्षणीयः सर्वावस्था-स्वप्यतिथिरित्यर्थः ॥ ८ ॥

आ० टी०—॥ ८ ॥

गो० टी०—श्रवणमेव व्याकरोति—आशेत्यादिना । अनिर्ज्ञातोऽन्यन्तमज्ञातः प्राप्यः प्राप्तुं योग्यः कनकाचलादिस्तस्य प्रार्थना मम भूयादितीच्छा । नितरां प्रत्यक्षादिना ज्ञातः प्राप्योऽर्थो राज्यादिर्यस्याः सा प्रतीक्षेत्यर्थः । योगो देवताध्यानं तज्जं संगतमित्यर्थः । ताभ्यामिष्टामिति । सा प्रियवाङ् निमित्तं यस्य तत्तन्निमित्तं फलमित्यनुवर्तते । यागजं स्वर्गाद्यारामादिक्रियाजं पितृलोकादि । कीदृग्विधस्येत्यल्पमेधस इति । को नाशयतीत्यपेक्षायामाह—यस्येत्यादिना । यस्य गृहेऽभुञ्जानो ब्राह्मणो वसतीत्यन्वयः । तात्पर्यार्थमाह—तस्मादिति । यस्मादनश्नन्नतिथिः सर्वं नाशयतीति प्रत्यवायः श्रूयते यस्माच्च वृद्धाः पाद्यादिभिरतिथिं पूजयन्ति तस्मादित्यर्थः । सर्वावस्थास्विति । कष्टायामप्यापदीत्यर्थः । अपिशब्दात्स्वस्थावस्थायां किमु वक्तव्यमिति भावः ॥ ८ ॥

तिस्रो रात्रीर्यदवात्सीर्गृहे मेऽनश्नन्ब्रह्मन्नतिथिर्नमस्यः । नमस्तेऽस्तु ब्रह्मन्स्वस्ति मेऽस्तु तस्मात्प्रति त्रीन्वरान्वृणीष्व ॥ ९ ॥

एवमुक्तो मृत्युरुवाच नचिकेतसमुपगम्य पूजापुरःसरम् । तिस्रो रात्रीर्यद्यस्मादवात्सीरुषितवानसि गृहे मे ममानश्नन्हे ब्रह्मन्नतिथिः सन्नमस्यो नमस्कारार्हश्च तस्मान्नमस्ते तुभ्यमस्तु भवतु । हे ब्रह्मन्स्वस्ति भद्रं मेऽस्तु तस्माद्भवतोऽनशनेन मद्गृहवासनिमित्ताद्दोषात्तत्प्राप्त्युपशमेन । [२]यद्यपि भवदनुग्रहेण सर्वं मम स्वस्ति स्यात्तथाऽपि त्वदधिकसंप्रसादनार्थमनशनेनोपोषितामेकैकां रात्रिं प्रति त्रीन्वरान्वृणीष्वाभिप्रेतार्थविशेषान्प्रार्थयस्व मत्तः ॥ ९ ॥

आ० टी०—॥ ९ ॥

गो० टी०—एवमुक्तो भार्याभिरमात्यैश्चेति शेषः । पूजापुरःसरं नचिकेतसमुपसंगम्य समीपं गत्वा मृत्युरुवाचेत्यन्वयः । वचनप्रकारमेव प्रतीकमादाय व्याचष्टे—तिस्र इति । यस्माद्गृहेऽनशनपूर्वकमुषितवान्नमस्कारयोग्यश्च तस्मादित्यर्थः । तस्मादित्युत्तरवाक्यादिपदोक्ताद्दोषादुपशमेन प्रार्थ्यते—स्वस्तीति । अनशनेनानशनपूर्वकम् । तत्प्राप्त्य शमेन दोषप्राप्तेरुपशमा निगमस्तेन द्वा(स्तदूरा)रा । तत्त्वातिदृग्यनु-

१ ग. च. 'वांस्तव' । २ ख. ज. 'र्वं मे स्व' । ३ ङ. झ. म. ट. 'कप्र' । ४ च. झ. म. ट. 'नोषि' ।

ग्रहेणैव सर्वं संपत्स्यते किं वरदानेनेत्याशङ्क्य परिहरति—यद्यपीत्यादिना। प्रसादनं प्रार्थनम्। उषितां स्थिताम्। अभिप्रेता इच्छाविषयास्तान् ॥ ९ ॥

**शान्तसंकल्पः सुमना यथा स्याद्वीतमन्युर्गौतमो माऽभि मृत्यो। त्वत्प्रसृष्टं माऽभिवदेत्प्रतीत एतत्त्रयाणां प्रथमं वरं वृणे ॥ १० ॥**

नचिकेतास्त्वाह—यदि दित्सुर्वरां[1]ञ्शान्तसंकल्प उपशान्तः संकल्पो यस्य मां प्रति यमं प्राप्य किंनु करिष्यति मम पुत्र इति स शान्तसंकल्पः सुमनाः प्रसन्नमनाश्च यथा स्याद्वीतमन्युर्विगतरोषश्च[3] गौतमो मम पिता माऽभि मां प्रति हे मृत्यो किंच त्वत्प्रसृष्टं त्वया विनिर्मुक्तं प्रेषितं गृहं प्रति मां[4]मामभिवदेत्प्रतीतो लब्धस्मृतिः स एवायं पुत्रो[5] ममाऽऽगत इत्येवं प्रत्यभिजानन्नित्यर्थः। एतत्प्रयोजनं त्रयाणां वराणां प्रथममाद्यं[6] वरं वृणे प्रार्थयेयं[7] यत्पितुः परितोषणम् ॥ १० ॥

आ० टी०—प्रेतीभूतोऽयमागतो नवलोकनीय इति मत्वोपेक्षां यथा न करोति तथा प्रसादं कुर्वित्याह—किंच त्वत्प्रसृष्टमिति ॥ १० ॥

गो० टी०—दित्सुर्दातुमिच्छुः। यमं प्राप्य किंनु करिष्यति मत्पुत्र इति संकल्पः शान्तो मां प्रति यस्य स शान्तसंकल्प इत्यन्वयः। मृत्यो मां प्रति शान्तसंकल्पः सुमना वीतमन्युश्च यथा स्यात्मत्पिता गौतम एतत्प्रयोजनमित्यन्वयः। प्रेतीभूतो यमादागतोऽनवलोकनीय इति मत्वोपेक्षां यथा न करोति तथा प्रसादं कुर्वित्याह—किंच त्वत्प्रसृष्टमिति। माऽभि मां प्रति लब्धस्मृतिरित्येतदृष्टान्तमाचष्टे—स एवेति। यत्पितुः परितोषणमेतत्त्वद्दत्तानां वराणामाद्यं वरं वृण इत्यन्वयः ॥ १० ॥

**यथा पुरस्ताद्भविता प्रतीत औद्दालकिरारुणिर्मत्प्रसृष्टः। सुखꣳ रात्रीः शयिता वीतमन्युस्त्वां ददृशिवान्मृत्युमुखात्प्रमुक्तम् ॥ ११ ॥**

मृत्युरुवाच[9]—यथा बुद्धिस्त्वयि पुरस्तात्पूर्वमासीत्स्नेहसमन्विता पितुस्तव भविता प्रीतिसमन्वितस्तव पिता तथैव प्रतीतः[10] प्रतीतवान्सन्नौद्दालकिः। उद्दालक एवौद्दालकिः। अरुणस्यापत्यमारुणिर्द्व्यामुष्यायणो

१ ख. ममाभि। २ ग. च. ञ. °रान्भगवञ्शा°। ३ ग. च. °न्युर्वीतक्रोधरो। घ. °न्युर्वीतरो°। ४ ग. ध. च. °मा माम°। ५ ग. घ. च. पुत्रः समा°। ६ घ. °माद्यव°। ७ क. ज. झ. ञ. ड. °ये य°। ८ छ. °न्युस्त्वा द°। ९ ख. ज. ततो मृत्युरुवाच। ग. तन्मृत्युरुवाच। १० घ. च. °तः प्रीत°।

वा मत्प्रसृष्टो मयाऽनुज्ञातः सन्नितरा अपि रात्रीः सुखं प्रसन्नमनाः शयिता[1] स्वप्ता वीतमन्युर्विगतमन्युश्च[2] भविता[3] स्यात्त्वां पुत्रं ददृशिवान्दृष्टवान्सं[4] मृत्युमुखान्मृत्युगोचरात्प्रमुक्तं सन्तम् ॥ ११ ॥

आ० टी०-औद्दालकिरिति तद्धितः स्वार्थे व्याख्यातोऽपत्यार्थे व्याख्येय इत्याह-द्व्यामुष्यायणो वेति । अमुष्य प्रख्यातस्यापत्यमामुष्यायणः द्वयोः पित्रोः पूर्वभाषादिना संबन्धी चासावामुष्यायणश्च । न जारज इत्यर्थः ॥ ११ ॥

गो० टी०-प्रथमेन वरेण पितुः सौमनस्यं वृणवते नाचिकेतसे वरप्रदानपरत्वेनोत्तरमवतारयति-मृत्युरिति । पूर्वं वैवस्वतगमनात्त्वत्पिता यथा स्नेहसमन्वित आसीत्तथैव प्रीतिमान्प्रतीतवान्प्रत्यभिज्ञानन्भवितेत्यन्वयः । यथा बुद्धिस्त्वयि पुरस्तात्पूर्वमासीत्स्नेहसमन्विता भविता प्रीतिसमन्वितस्त्वत्पिता तथैव प्रतीतः । प्रतीतवान्सन्निति पाठे यथा पूर्वस्नेहसमन्विता बुद्धिस्त्वय्यासीत्तथैव बुद्धिः पितुर्भवितेत्येकोऽन्वयः । द्वितीयस्तु यथा पूर्वं प्रीतिसमन्वितस्त्वत्पिता तथैव प्रतीतवान्सन्स एवायं पुत्र इतिप्रत्यभिज्ञावान्संस्त्वत्पिता प्रीतिसमन्वितो भवितेति । प्रतीत इत्यस्य प्रतीतिमानिति कश्चित्पाठः । औद्दालकिरिति । तद्धितं स्वार्थे व्याख्यायापत्यार्थे व्याचष्टे-द्व्यामुष्यायण इति । अमुष्य प्रख्यातस्यापत्यमामुष्यायणः । उत्पन्नः पुत्रोऽस्यामुभयोरिति भाषादिना द्वयोः संबन्धी द्व्यामुष्यायणो न जारज इत्यर्थः । अनुज्ञातोऽनुग्रहसंपन्नः । सुखमनायासं स्वप्ता स्वापकर्ता स्यात्प्रमुक्तं सन्तं त्वां दृष्टवान्वीतमन्युः स्यान्मया यमाय प्रेषितो मद्वचनमुल्लङ्घ्य समागत इतिबुद्धिरहितः स्यादित्यर्थः ॥ ११ ॥

स्वर्गे लोके न भयं किंचनास्ति न तत्र त्वं न जरया बिभेति । उभे तीर्त्वाऽशनायापिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥ १२ ॥

नाचिकेता उवाच-स्वर्गे लोके रोगादिनिमित्तं भयं किंचन किंचिदपि नास्ति । न च तत्र त्वं मृत्यो सहसा प्रभवस्यतो जरया युक्त इह लोकवत्[5] त्वत्तो न बिभेति[6] कुतश्चित्तत्र[7] । किंचोभे अशनायापिपासे तीर्त्वाऽतिक्रम्य शोकमतीत्य गच्छतीति शोकातिगः सन्मानसेन दुःखेन[8] वर्जितो मोदते हृष्यति स्वर्गलोके दिव्ये ॥ १२ ॥

---

१ ग. घ. च. 'ता सुप्तो वी' । २ ग. घ. च. 'न्युर्गत' । ३ ज. 'ता सम स्या' । ४ ग. ङ. झ. ञ. ट. 'न्सन्मृत्यु' । ५ ङ. झ. ञ. ठ. 'त्वान्मद्रोच' । ६ ग. ङ. झ. ञ. ट. 'क इव च त्वत्तो । ७ च. 'ति कश्चि' । ८ ख. ग. झ. ञ. 'न च. व' ।

आ० टी०—स्वर्गसाधनमग्निज्ञानं प्रष्टुं स्वर्गस्वरूपं तावदाह—स्वर्गे लोक इति॥१२॥

गो० टी०—पितुः सौमनस्ये दत्ते स्वर्गसाधनमग्निज्ञानं प्रष्टुं स्वर्गरूपं तावदाह—**स्वर्गे लोक इति** । आदिपदादाधिभौतिकाधिदैविकचौरादिसंग्रहः । ननु रोगादिनिमित्तभयाभावेऽपि मरणनिमित्तं स्यादित्यत आह—**न चेति** । सहसा प्रभवसि झटिति प्रभवसीत्यर्थः । यत एवमतो जरादियुक्तः सन्निह लोक इव तत्र कश्चिदपि त्वत्तो न बिभेतीत्यन्वयः । उभे तीर्त्वेति वाक्यमन्वयमुखेन व्याचष्टे—**किं चेत्यादिना** । अतिक्रम्याप्राप्येत्यर्थः । शोकातिगः सञ्शोकमतिक्रान्तः सन् । शोकशब्दार्थमाह—**मानसेनेति** । चकाराद्बाह्यनिमित्तदुःखराहित्यमुच्यते । दुःखाभावे सुखस्य संभावितत्वादाह—**मोदत इति** ॥ १२ ॥

**स त्वमग्निꣳ स्वर्ग्य[1]मध्येषि मृत्यो प्रब्रूहि त्वꣳ श्रद्दधानाय मह्यम् । स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्त एतद्द्वितीयेन वृणे वरेण ॥ १३ ॥**

एवंगुणविशिष्टस्य स्वर्गलोकस्य प्राप्तिसाधनभूतम[2]ग्निं स त्वं मृ[3]त्युरध्येषि स्मरसि जानासीत्यर्थः । हे मृत्यो[4] यत[5]स्त्वं प्रब्रूहि कथय श्रद्दधानाय श्रद्धावते मह्यं स्वर्गार्थिने । येनाग्निना चितेन स्वर्गलोकाः [6]स्वर्गो लोको येषां ते स्वर्गलोका यजमाना अ[7]मृतत्वममरणतां देवत्वं भजन्ते प्राप्नुवन्ति तदेतदग्निविज्ञानं द्वितीयेन वरेण वृणे ॥ १३ ॥

आ० टी०—॥ १३ ॥

गो० टी०—**एवंगुणविशिष्टस्येति** । भयमरणाशनायापिपासाशोकरहितत्वगुणेन विशिष्टस्येत्यर्थः । अवबोधहेतुमाह—**हे मृत्यो इति** । देवतात्वाज्ज्ञानमस्तीति भावः । ज्ञानफलं किमित्यपेक्षायामाह—**यत इति** । अत इत्यध्याहारः । अग्निज्ञानं श्रद्धारहिताय तत्फलेच्छाविरहिणे च न वाच्यमित्यत आह—**श्रद्दधानायेति** । श्रद्धया स्वर्गार्थित्वमुपलक्ष्यत इत्याह—**स्वर्गार्थिन इति** । देवत्वप्राप्तौ हेतुमाह—**येनेति** । चितेनोपासितेनेत्यर्थः । यस्मादमृतत्वसाधनमग्निस्तस्मादेतस्याग्नेर्विज्ञानं वृणे प्रार्थये ॥१३॥

**प्र ते ब्रवीमि तदु मे निबोध स्वर्ग्यमग्निं नचिकेतः प्रजानन् । अनन्तलोकाप्तिमथो प्रतिष्ठां विद्धि त्वमेतं निहितं गुहायाम् ॥ १४ ॥**

१ क. ङ. झ. ञ. ट. तत् । २ क. ख. ज. °मि स्वर्ग्यं स । ३ घ. मृत्यो अध्ये° । ४ च. °त्यो यम य° । ५ ङ. झ. ञ. ट. °तस्त्वं प्र° । ६ क. ख. स्वर्गलो° । ७ घ. अमरणत्वं दे° ।

मृत्योः प्रतिज्ञेयम् । प्र ते तुभ्यं प्र[२]ब्रवी[३]मि । यत्त्वया प्रार्थितं तदु मे मम वचसो निबोध बुध्यस्वैकाग्रमनाः सन्स्वर्ग्यं स्वर्गाय हितं स्वर्गसाधनमग्निं हे नचिकेतः प्रजानन्विज्ञातवानहं स[४]न्नित्यर्थः । [५]प्रब्रवीमि तन्निबोधेति च शिष्यबुद्धिसमाधानार्थं वचनम् । अधुनाऽग्निं स्तौति—अनन्त[६]लोकाप्तिं स्वर्गलोकफलप्राप्तिसाधनमित्येतत् । अथो अपि प्रतिष्ठामाश्रयं जगतो विरा[७]ड्रूपेण तमेतमग्निं मयोच्यमानं विद्धि[८] जानीहि त्वं निहितं स्थितं गुहायां विदुषां बुद्धौ निविष्टमित्यर्थः ॥ १४ ॥

---

आ० टी०—इयं च वक्ष्यमाणा मृत्योः प्रतिज्ञाऽवगन्तव्या । “स त्रेधाऽऽत्मानं व्यकुरुत” इति श्रुतेरग्निवाय्वादित्यरूपेण समष्टिरूपो विराडेव व्यवस्थित इति तेन विराड्रूपेणाग्निर्जगतः प्रतिष्ठेत्युच्यते ॥ १४ ॥

---

गो० टी०—प्रब्रवीमीत्यन्वयः । उ वाक्यार्थे । यत्त्वया प्रार्थितं तत्प्रब्रवीमि मे वचसो निबोधेत्यन्वयः । अस्मच्छब्दस्य वचने लक्षणेत्याह—वचस इति । वाक्यादेकाग्रमनाः सावधानचित्तः सन् । हितार्थे यत्प्रत्यय इत्याह—स्वर्गायेति प्रतिज्ञायाः संबोधनस्य च किं प्रयोजनमित्यपेक्षायामाह—प्रब्रवीमीति समाधानं विषयान्तरव्यावृत्तिपूर्वकं चित्तस्यैकविषयत्वापादनं तदर्थमित्यर्थः । प्ररोचनायाः प्रवृत्तिहेतुत्वमित्यभिप्रेत्याऽऽह—अधुनेति । स त्रेधाऽऽत्मानं व्यकुरुतेति श्रुतेरग्निवाय्वादित्यरूपेण समष्टिरूपो विराडेव व्यवस्थित इति तेन विराड्रूपेणाग्निर्जगतः प्रतिष्ठेत्युच्यते ॥ १४ ॥

लोकादिमग्निं तमुवाच तस्मै या इष्टका यावतीर्वा
यथा वा । स चापि तत्प्रत्यवदद्यथोक्तमथास्य
मृत्युः पुनरेवाऽऽह तुष्टः ॥ १५ ॥

इदं श्रुतेर्वचनम् । लोकादिं लोकानामादिं प्रथमशरीरि[१०]त्वादग्निं तं प्रकृतं नचिकेतसा प्रार्थितमुवाचोक्तवान्मृत्युस्तस्मै नचिकेतसे । किंच या इष्टकाश्चेतव्याः स्वरूपेण । यावतीर्वा संख्यया । यथा वा ची[११]यतेऽग्निर्येन प्रकारेण सर्वमेतदुक्तवानित्यर्थः । स चापि नचिकेता[१२]स्तन्मृत्युने[१३]क्तं यथा वत्प्रत्ययेनावदत्प्रत्युच्चारितवान् । [१४]अथ तस्य प्रत्युच्चारणेन तुष्टः सन्मृत्युः पुनरेवाऽऽह वरत्रयव्यतिरेकेणान्यं वरं दित्सुः ॥ १५ ॥

---

१ ध. °मृ । ते । २ झ. °वीमीति । य° । ३ घ. °मि । तत्त्वत्प्रार्थि° । ४ ञ. °र्थः । ते प्र° । ५ झ. प्र तेति प्रब्र° । ६ ग. घ. ञ. °न्तस्वर्गलो° । ७ ङ. झ. ञ. ट. °राड्रूस्वरू° । ८ ग. घ. °द्धि विजा° । ९ छ. ज. °नराह । १० ग. ङ. ञ. ट. रीरत्वा° । ११ झ. ञ. ट. °यन्तेऽग्नी येन° । १२ क. ख. ज. °स्तत्प्रत्यवदद्यथोक्तमथास्य प्र° । १३ झ. ञ. ट. °क्तं प्रत्यवदत् । य° । १४ झ. ञ. ट. अथास्य ।

आ० टी०—सप्रपञ्चमग्निज्ञानं चयनप्रकरणाद्द्रष्टव्यमिति श्रुतिरस्मान्बोधयतीत्याह—इदं श्रुतेर्वचनमिति ॥ १९ ॥

गो० टी०—सप्रपञ्चमाग्निज्ञानं च येन प्रकारेण द्रष्टव्यमिति श्रुतिरस्मान्बोधयतीत्याह—इदं श्रुतेर्वचनमिति ।

स वै शरीरी प्रथमः स वै पुरुष उच्यते ।
आदिकर्ता स भूतानां ब्रह्माऽग्रे समवर्तत ॥

इति स्मृतेर्विराजोऽग्नेरात्मत्वं प्रकृततत्त्वं व्याचष्टे—नचिकेतसेति । वक्ष्यमाणमपि श्रुतेर्वचनमित्याह—किंचेति । चेतव्या उपधातव्याः स्वरूपेणेति पूर्वेणान्वितम् । यथाशब्दार्थमाह—येनेति । तत्तदिष्टकाप्रकाशकतत्तन्मन्त्रोच्चारणेनेत्यर्थः । तदग्निज्ञानं यथोक्तावधारणसामर्थ्यं नचिकेतस आह—यथावदिति । यथोक्तमग्निं यमं प्रति प्रत्युच्चारितवान्प्रतिपादितवानित्यर्थः । अथ नचिकेतसः प्रत्युक्त्यनन्तरमस्य नचिकेतसः प्रत्युच्चारणेन तुष्टो मृत्युर्वरत्रयव्यतिरेकेणान्यं वरं दित्सुर्दातुमिच्छुः पुनरेवाऽऽहोक्तवानिति योजना ॥ १९ ॥

**तमब्रवीत्प्रीयमाणो महात्मा वरं तवेहाद्य ददामि भूयः । तवैव नाम्ना भविताऽयमग्निः सृङ्कां चेमामनेकरूपां गृहाण ॥ १६ ॥**

कथं तं नचिकेतसमब्रवीत्प्रीयमाणः शिष्ययोग्यतां पश्यन्प्रीयमाणः प्रीतिमनुभवन्महात्माऽक्षुद्रबुद्धिर्वरं तव चतुर्थमिह प्रीतिनिमित्तमद्येदानीं ददामि भूयः[2] पुनः प्रयच्छामि । तवैव[3] नचिकेतसो नाम्नाऽभिधानेन प्रसिद्धो[4] भविता मयोच्यमानोऽयमग्निः । किंच सृङ्कां शब्दवतीं रत्नमयीं मालामिमामनेकरूपां विचित्रां गृहाण स्वीकुरु । यद्वा सृङ्कां कुत्सितां गतिं कर्ममयीं गृहाण । अन्यदपि कर्मविज्ञानमनेकफलहेतुत्वात्स्वीकुर्वित्यर्थः ॥ १६ ॥

आ० टी०—॥ १६ ॥

गो० टी०—वरान्तरमेव प्रश्नपूर्वकमाह—कथमित्यादिना । शिष्ययोग्यतां यथोक्तार्थग्रहणपटुत्वलक्षणाम् । क्षुद्रं क्षुद्रविषयं स्वल्पविषयं तद्विषयबुद्धिः क्षुद्रबुद्धिः सा न विद्यते यस्य सोऽक्षुद्रबुद्धिः । चतुर्थमिति । पितुः सौमनस्याग्निविद्यात्मविद्यापेक्षया चतुर्थमित्यर्थः । इहेति व्याचष्टे—प्रीतिनिमित्तमिति । प्रीतिर्निमित्तं प्रयोजकं यस्य

१ क घ. ङ. च. °मद्येदा° । २ क. च. °यः प्र° । ३ ग ङ. ढ. °व च न° । ४ क. च. °ग्निः सृ° । ५ क. च. सृङ्कामाकु° । ङ. सृङ्कां वा कु° ।

तत् । किं तत्प्रयोजकमित्यपेक्षायामाह--तवैवेति । प्रसिद्ध इति । नाचिकेत इति त्वन्नाम्ना प्रसिद्धिं गमिष्यतीत्यर्थः । नैतावन्मात्रं वरमन्यदपि ददामि नचिकेतसं प्रत्येवमयमाह-सृङ्केति । शब्दवत्त्वे हेतुमाह--रत्नवतीमिति । रत्नमयीमिति पाठान्तरम् । योग्यतयैतद्दशब्दस्य संनिहितमालार्थकत्वमित्याह—मालामिति । अनेकरूपामनेकानि रूपाणि नीलादीनि यस्यां सा तामत एव विचित्रामित्यर्थः । सृनिधातोर्गत्यर्थमादायाऽऽह--यद्वेति । अकुत्सितां गतिमिति । अकुत्सिता गतिर्धूमादिनार्चिरादिना च प्राप्यं फलं तामित्यर्थः । ननु कृते कर्मणि लाभमवाप्तकथं वरप्रदानेन कर्मफलप्राप्तिरित्य शङ्क्य तात्पर्यार्थमाह—अन्यदपीत्यादिना । कर्मविज्ञानं सृङ्काशब्दलक्ष्यं फलतोऽनेकरूपं शास्त्रसिद्धं स्वी कुर्वित्यर्थः ॥ १६ ॥

---

पुनरपि कर्मस्तुतिमेवाऽऽह—

त्रिणाचिकेतस्त्रिभिरेत्य संधिं त्रिकर्मकृत्तरति जन्म-
मृत्यू । ब्रह्मजज्ञं देवमीड्यं विदित्वा निचाय्येमाꣳ
शान्तिमत्यन्तमेति ॥ १७ ॥

त्रिणाचिकेतस्त्रिःकृत्वो नाचिकेतोऽग्निश्चितो येन स त्रिणाचिकेतस्तद्विज्ञानस्तदध्ययनस्तदनुष्ठानवान्वा । त्रिभिर्मातृपित्राचार्यैरेत्य प्राप्य संधिं संधानं संबन्धं मात्राद्यनुशासनं यथावत्प्राप्येत्येतत् । तद्धि प्रामाण्यकारणं श्रुत्यन्तरादवगम्यते । यथा मातृमान्पितृमानित्यादेः । वेदस्मृतिशिष्टैर्वा प्रत्यक्षानुमानागमैर्वा । तेभ्यो हि विशुद्धिः प्रत्यक्षा त्रिकर्मकृदिज्याध्ययनदानानां कर्ता तरत्यतिक्रामति जन्ममृत्यू । किंच ब्रह्मजज्ञं ब्रह्मणो हिरण्यगर्भाज्जातो ब्रह्मजः । ब्रह्मजश्चासौ ज्ञश्चेति ब्रह्मजज्ञः सर्वज्ञो ह्यसौ । तं देवं द्योतनाज्ज्ञानादिगुणवन्तमीड्यं स्तुत्यं विदित्वा शास्त्रतो निचाय्य दृष्ट्वा चाऽऽत्मभावेनेमां स्वबुद्धिप्रत्यक्षां शान्तिमुपरतिमत्यन्तमेत्यतिशयेनैति । वैराजं पदं ज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठानेन प्राप्नोतीत्यर्थः ॥ १७ ॥

---

आ० टी०—विशुद्धिरिति धर्माद्यवगतिः । दृष्ट्वा चाऽऽत्मभावेनेति । अयमर्थः—विंशत्यधिकानि सप्त शतानीष्टकानां संख्या संवत्सरस्याहोरात्राणि च तावत्संख्यकान्येव संख्यासामान्यादिष्टकास्थानीयोऽग्निरहमित्यात्मभावेन ध्यात्वेति ॥ १७ ॥

---

१ क्ष ग. ट. ठ. प्राप्यफलता । २ ज. झ. ट. ज्ञानवान्वा तदध्ययनवान्वा । ३ क. च. °नस्तदनु° । ४ क. ख. च. ज. °मानि° । ५ ख. च. °न्म च मृत्युं च जन्ममृ° । ६ ङ. °त्वा गृहीत्वा शा° ।

गो० टी०—प्रीतिनिमित्ताधिकवरदानानन्तरमवशिष्टमग्निज्ञानस्य फलं वदिष्यन्पुनरपि तत्स्तौति ग्रन्थकार आह—पुनरपीति । त्रिःकृत्वस्त्रिवारं नाचिकेतोऽग्निश्चितो येन तद्विज्ञानवता स त्रिणाचिकेत इति । अर्थान्तरमभिप्रेत्याऽऽह—तद्विज्ञानवानेवेति । यथावद्यथाकाल-मुपनयनपर्यन्तं मात्रा वेदाध्ययनपर्यन्तं पित्रा आचार्येण शिक्षां प्राप्येत्यर्थः । तदनुशा-सनमनपेक्ष्य कर्मविज्ञानमात्रात्त्रिकर्मकृत्स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—बुद्धीति । तदनुशासनम् । हिशब्दः स्मार्तप्रसिद्धिद्योतकः । प्रामाण्यकारणं धर्मज्ञानहेताविति शेषः । यथा मातृमान्पि-तृमानाचार्यवान्ब्रूयात्तथा तच्छैलिनोऽब्रवीदिति श्रुत्यन्तरान्मात्राद्यनुशासनं प्रामाण्यकारण-मवगम्यत इति योजना । वेदाश्च स्मृतयश्च शिष्टाश्च तैः प्रत्यक्षं चानुमानं चाऽऽगमश्च तैः सम्बन्ध्येत्यर्थः । शिशुद्धर्मप्रवृत्तिः । इज्या ज्योतिष्टोमादिर्यागोऽध्ययनं वेदस्य दानं बहिर्वेदि दीयमानम् । यथा त्रिकर्मकृत्तरति तथा त्रिणाचिकेत इति स्तुतिद्वारा फलं प्रदर्श्य फलान्तरमपि सविज्ञानमाह—किंचेति । हि यस्माद्धिरण्यगर्भः शब्दस्तस्मादसौ सर्वज्ञ इत्यर्थः । द्योतनादिगुणवत्त्वमादित्यादिरूपत्वादिति शेषः । ईड्यं प्रतिमामयूर्भिर्वि-वानवर्तैश्च स्तूयत इति पुराणे प्रसिद्धम् । दृष्ट्वा चाऽऽत्मभावेनेति । अयमर्थः— विंशत्यधिकानि सप्त शतानीष्टकानां संख्या संवत्सरस्य च प्रातःसायंकालयोरनुष्ठीय-मानान्यग्निहोत्राणि तावत्संख्याकान्येव तैरष्टकास्थानीयैश्चितोऽग्निरहमस्म्यात्मभावेन ध्यात्वा स्वबुद्धिः स्वेन कर्तव्या बुद्धिरुपासना तया साक्षात्कृतां शान्तिं वि(वै)राजं फलम् । तात्पर्यार्थमाह—वैराजमिति । ज्ञानमुपासनं चयनं कर्म ॥ १७ ॥

इदानीमग्निविज्ञानचयनफलमुपसंहरन्प्रकरणं च—

त्रिणाचिकेतस्त्रयमेतद्विदित्वा य एवं विद्वांश्चिनुते नाचिकेतम् । स मृत्युपाशान्पुरतः प्रणोद्य शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके ॥ १८ ॥

त्रिणाचिकेतस्त्रयं यथोक्तं या इष्टका यावतीर्वा यथा वेत्येतद्विदि-त्वाऽवगम्य यश्चैवमात्मरूपेणाग्निं विद्वांश्चिनुते निर्वर्तयति नाचिकेतमग्निं क्रतुं स मृत्युपाशानधर्माज्ञानरागद्वेषादिलक्षणान्पुरतोऽग्रतः पूर्वमेव शरी-रपातादित्यर्थः । प्रणोद्यापहाय शोकातिगो मानसैर्दुःखैर्वर्जित इत्येतत् । मोदते स्वर्गलोके वैराजे विराडात्मस्वरूपप्रतिपत्त्या ॥ १८ ॥

आ० टी०—॥ १८ ॥

गो० टी०—चशब्द उपसंहरतीति क्रमानुकर्षणार्थः । त्रयं किमित्यतो व्याचष्टे—

१ ट. 'केतः स्त्रय' । २ ख. ङ. 'र्णोद्याव' ।

यथोक्तमिति । इष्टकानां स्वरूपं संख्याप्रकारश्चेतत्पूर्वोक्तम् । चशब्दः कर्मसमुच्चयार्थः । एवंशब्दार्थमाह— आत्मरूपेणेति । अग्निशब्देन तद्विषयकध्यानमुच्यत इत्याह— क्रतुमिति । संकल्पं ध्यानमिति यावत् । यो ध्यानं निर्वर्तयति यत्नेन करोति स इत्यन्वयः । पाशशब्दो बन्धकत्वगुणयोगादधर्मादीनभिधत्त इत्याह—अधर्मेत्यादिना । कस्मादित्यपेक्षायामाह——शरीरेति । रागादिरहितो भूत्वाऽपहाय वैराजे पद इति शेषः । किंभूयेत्यपेक्षायामपेक्षितं पूरयति——विराडिति ॥ १८ ॥

एष तेऽग्निर्नचिकेतः स्वर्ग्यो यमवृणीथा द्वितीयेन वरेण । एतमग्निं तवैव प्रवक्ष्यन्ति जनासस्तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व ॥ १९ ॥

एष ते तुभ्यमग्निर्वरो हे नचिकेतः स्वर्ग्यः स्वर्गसाधनो यमग्निं वरमवृणीथाः प्रार्थितवानसि द्वितीयेन वरेण सोऽग्निर्वरो दत्त इत्युक्तोपसंहारः । किंचैतमग्निं तवैव नाम्ना प्रवक्ष्यन्ति जनासो जना इत्येतदेष वरो दत्तो मया चतुर्थस्तुष्टेन । तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्व । तस्मिन्नदत्त ऋणवानहमित्यभिप्रायः ॥ १९ ॥

आ० टी० ॥ १९ ॥

गो० टी०— उक्तमुपसंहरति—एष इति । स्वर्ग्यः स्वर्गसाधनमित्यर्थः । द्वितीयेन वरेण यमग्निं वृतवानस्येष तेऽग्निर्वरोऽग्निरुक्त इत्यन्वयः । पौनरुक्त्यं परिहरति— उक्त इति । इदमप्युक्तोपसंहार इत्याह——किंचेति । ननु प्रार्थनामन्तरेण स्वयमेव प्रेरणमनुचितमित्यत आह——अदत्त इति । तृतीये वर इति शेषः ॥ १९ ॥

एतावद्व्यतिक्रान्तेन विधिप्रतिषेधार्थेन मन्त्रब्राह्मणेनावगन्तव्यं यद्वरद्वयसूचितं वस्तु नाऽऽत्मतत्त्वविषययाथात्म्यविज्ञानम् । अतो विधिप्रतिषेधार्थविषयस्याऽऽत्मनि क्रियाकारकफलाध्यारोपणलक्षणस्य स्वाभाविकस्याज्ञानस्य संसारबीजस्य निवृत्त्यर्थं तद्विपरीतब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानं क्रियाकारकफलाध्यारोपणलक्षणशून्यमात्यन्तिकनिःश्रेयसप्रयोजनं वक्तव्यमित्युत्तरो ग्रन्थ आरभ्यते । तमेतमर्थं द्वितीयवरप्राप्त्याऽप्यकृतार्थत्वं तृतीयवरगोचरमात्मज्ञानमन्तरेणेत्याख्यायिकया प्रपञ्चयति—

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नाय-

१ घ. स्वर्ग्यो य° । २ ङ. झ. ञ. ट ठ. °धनं य° । ३ घ. °त्येष । ४ ख. झ. °देव व° । ५ ग. घ. °वानेवाह° । ६ ख. ग. घ. °र्थं या° । ७ क. ख. ज. °धस्य वि° । ८ ग. च. ञ. ट. °लाद्यध्या° । ९ क. ङ. च. ज. °पल° । १० ग. घ. झ. ट. °पल° । ११ ठ. वरं प्राप्याप्य° ।

मस्तीति चैके । एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाऽहं वराणा-
मेष वरस्तृतीयः ॥ २० ॥

यतः पूर्वस्मात्कर्मगोचरात्साध्यसाधनलक्षणादनित्याद्विरक्तस्याऽऽत्मज्ञानेऽधिकार इति तन्निन्दार्थं पुत्राद्युपन्यासेन प्रलोभनं क्रियते । नाचिकेता उवाच तृतीयं वरं नचिकेतो वृणीष्वेत्युक्तः सन् । येयं विचिकित्सा संशयः प्रेते[1] मृते मनुष्येऽस्तीत्येकेऽस्ति[2] शरीरेन्द्रियमनोबुद्धिव्यतिरिक्तो देहान्तरसंबन्ध्यात्मेत्येके नायमस्तीति चैके नायमेवंविधोऽस्तीति चैकेऽतश्चास्माकं[3] न प्रत्यक्षेण नापि[4] वाऽनुमानेन निर्णयविज्ञानमेतद्विज्ञानाधीनो हि परः पुरुषार्थ इत्यत एतद्विद्यां विजानीयामहमनुशिष्टो ज्ञापितस्त्वया । वराणामेष वरस्तृतीयोऽवशिष्टः ॥ २० ॥

आ०—टी०— पितापुत्रस्नेहादिस्वर्गलोकान्तमानं यद्वरद्वयसूचितं संसाररूपं तदेव कर्मकाण्डप्रतिपाद्यमात्मन्यारोपितं तन्निवर्तकं चाऽऽत्मज्ञानमित्यध्यारोपापवादभावेन पूर्वोत्तरग्रन्थयोः संबन्धमाह—एतावद्धीति । प्रथमवल्ली समाप्तिपर्यन्तग्रन्थाख्यायिकाया अवान्तरसंबन्धमाह—तमेतमर्थमिति । देहव्यतिरिक्तात्मास्तित्वे वादिविप्रतिपत्तेः संशयश्चेत्तर्हि प्रत्यक्षादिना स्वस्यैव निर्णयज्ञानसंभवात्परनिर्णयस्य निष्प्रयोजनत्वं च न तदर्थः प्रश्नः कर्तव्य इत्याशङ्क्याऽऽह— अतश्चास्माकमिति । प्रत्यक्षेण स्थाणौ निर्णीत पुरुषो न वेति संदेहादर्शनाद्व्यतिरिक्तात्मास्तित्वे च संदेहदर्शनात्र प्रत्यक्षेण निर्णयः परलोकसंबन्ध्यात्मनो न कश्चिल्लिङ्गमस्तीत्यनुमानेनापि निर्णय इत्यर्थः ॥ २० ॥

गो० टी०—पितुः सौमनस्यमारभ्य स्वर्गलोकपर्यन्तं यद्वरद्वयसूचितं संसाररूपमेव कर्मकाण्डप्रतिपाद्यमात्मन्यारोपितं तन्निवर्तकं चाऽऽत्मज्ञानमित्यध्यारोपापवादत्वेन पूर्वोत्तरग्रन्थयोः संबन्धमाह— एतावद्धीति । यस्माद्वरद्वयसूचितं पितापुत्रस्नेहादि यद्यत्तेतावदेवावगन्तव्यमित्यन्वयः । हिशब्द एवकारार्थः । विधिप्रतिषेधार्थेन प्रवृत्तिनिवृत्त्यर्थकेन मन्त्रब्राह्मणेनोपनिषद्व्यतिरिक्तेनावगन्तव्यम् । एवकारव्यावर्त्यमाह—नाऽऽत्मेति । आत्मतत्त्वविषयं याथात्म्यविषयं विज्ञानम् । एवमारोपं प्रदर्श्य तस्य स्वरूपहेतुफलैरनुवादपूर्वकमपवादमाह— अत इति । यतो निवृत्त्याविषयत्वं कर्मकाण्डस्यात इत्यर्थः। विध्यर्थः प्रवृत्तिनिषेधार्थो निवृत्तिस्तद्विषयस्येत्यनेन प्रमाणोपन्यासः । स्वरूपमाह—

१ ख. ज. °ते म° । २ ग. घ. च. °ष्येऽस्ति । ३ ग. च °केऽतोऽस्मा° । ४ क ख. ज. नाप्यनु° । घ. च. नापि चानु° । ५ ञ. निर्णय° । ६ ख. ग. इत्येतद्वि° । ७ झ ञ. ठ. °व्यावृत्तिमा° ।

आत्मानि क्रियेति । आदिशब्देन प्रमातृप्रमेयादिसंग्रहः । हेतुमाह-स्वाभाविक-स्येति । अस्य व्याख्याऽज्ञानस्येति । तस्यानर्थहेतुत्वं स्फुटयति-संसारबीजस्येति । तस्माद्विपरीतं संसारभिन्नं ब्रह्मात्मैकत्वमेव वृत्त्यारूढं विज्ञानम् । तद्विपरीतं स्फुटयति-क्रियेति । आत्यन्तिकनिःश्रेयस मवासनाविद्यानिवृत्तिरानन्दावाप्तिश्च तदेव प्रयोजनं यस्य तत्तथा । प्रथमवल्लीसमाप्तिपर्यन्तमाख्यायिकाया अनन्तरतात्पर्यमाह-तमेतमिति । तं श्रुत्यादिप्रसिद्धमेत विद्वदनुभवप्रसिद्धम् । आत्मज्ञानमन्तरेण द्वितीयवरं प्राप्याप्यकृ-तार्थत्वमित्याख्यायिकया प्रपञ्चयतीत्यन्वयः । कामादिप्रलोभनाख्यायिका[१] । विशेष माह-यत इति । पूर्वस्मात्पूर्वकाण्डोदितात्कर्मगोचरः कर्माश्रयः तस्मादत एवानि-त्यत्वसातिशयत्वदोषेण दुष्टत्वात्तस्माद्विरक्तस्य । इति तस्मादित्यर्थे । तन्निन्दार्थं कर्मनिन्दार्थं निन्दा च निवृत्तावुपयुज्यते । आदिशब्दः पौत्रादिपरिग्रहार्थः । प्रलोभनं रागानुकूलो व्यापारः । अपेक्षितं समर्पयन्नुत्तरमवतारयति—नचिकेता इति । उक्तः सन्नुवाचेत्यन्वयः । या सर्वसाधारणा । इयं प्रत्यक्षसिद्धा । मनुष्यग्रहणं प्राणिमात्रोपल-क्षणार्थम् । शरीरे पतित आत्माऽस्ति वा न वेति संशयो यः प्रसिद्धस्तद्विषयात्मा-स्तित्वं विद्यामित्यन्वयः । संशयस्य वादिविप्रतिपत्तिहेतुत्वात्तामाह-अस्तीति । शरी-रव्यतिरिक्तो नेत्येका विप्रतिपत्तिः । इन्द्रियव्यतिरिक्तो नेत्यपरा । मनोव्यतिरिक्ता नेत्यन्या । बुद्धिव्यतिरिक्तो नेत्यधिका । कर्ता भोक्ता वा न वेति विप्रतिपत्तिमूलकोऽ-शनायाद्यतीतब्रह्माभेदविषयः संशयोऽन्यत्र धर्मादित्यत्र द्रष्टव्यः । वादिविप्रतिपत्तिमूलकः संशयश्चेत्तर्हि प्रत्यक्षादिना स्वस्यैव निर्णयसंभवात्तन्निर्णयार्थं प्रश्नोऽनर्थक इत्यत आह-अतश्चाति । स्थाणौ निर्णीत पुरुषो न वेतिसंदेहादर्शनाद्देहादिव्यतिरिक्तात्मास्तित्वे च संशयदर्शनान्न प्रत्यक्षेण तन्निर्णयः । परलोकसंबन्ध्यात्मव्याप्यलिङ्गाभावान्नानुमानेन निश्चय इत्यर्थः । ननु तद्विज्ञानं निष्फलमित्याशङ्क्याऽऽह-एतद्विज्ञानेति । यस्मा-त्तदधीनपरमपुरुषार्थोऽत इत्यर्थः । एतदात्मास्तित्वम् । ननु पितुः सौमनस्यमप्यग्न्या-त्मविद्यापेक्षया तृतीयं तत्कथमेष वरस्तृतीय इत्याशङ्क्य पाठक्रमापेक्षयाऽवशिष्टार्थक स्तृतीयशब्द इत्याह-अवशिष्ट इति ॥ २० ॥

किमयमेकान्ततो निःश्रेयससाधनात्मज्ञानार्हो[३] न वेत्येतत्परीक्षणार्थ[४]-माह—

देवैरत्रापि विचिकित्सितं पुरा न हि सुज्ञेयम[५]-

---

१ झ. ञ. ट. 'र्थत्वादित्या' । २ झ. ठ. 'लोभामाख्या' । ३ ग. घ. च. 'नायाऽऽत्म' । ४ क. ख. ज. 'रीक्षार्थं' । ५ क छ. झ. ञ ट. सुविज्ञे' ।

णुरेष धर्मः । अन्यं वरं नचिकेतो वृणीष्व मा
मोपरोत्सीरति मा सृजैनम् ॥ २१ ॥

देवैरप्यत्रैतस्मिन्वस्तुनि विचिकित्सितं संशयितं पुरा पूर्वं न हि सुज्ञेयं सुष्ठु ज्ञेयं श्रुतमपि प्राकृतैर्जनैर्यतोऽणुः सूक्ष्म एष आत्माख्यो धर्मोऽतोऽन्यमसंदिग्धफलं वरं नाचकेतो वृणीष्व मा माँ मोपरोत्सीरुपरोधं मा कार्षीरधमर्णमिवोत्तमर्णः । अतिसृज विमुञ्चैनं वरं मा मां प्रति ॥ २१ ॥

---

आ० टी०—॥ २१ ॥

---

गो० टी०-नन्वात्मास्तित्वे पृष्टे तदुक्तव्यं तत्कथमन्यदुच्यत इत्याशङ्कयाऽऽशयमाह—किमयमिति । एकान्ततो नियमेनार्थित्वेन विवेकादिकं संगृहीतम् । विवेकादिशालिन एव ज्ञानयोग्यत्वेति परीक्षणार्थमुत्तरो ग्रन्थ इत्यर्थः । अपिशब्दं भिन्नक्रमेण योजयति-–देवैरपीति । देवा अप्येतद्विषयकसंशयवन्त इत्यर्थः । नन्वप्रतिहतज्ञाना देवा इति प्रसिद्धेः कथं संशयस्तत्राऽऽह--पुरेति । सृष्टिकाले । अपिशब्दादन्येषां संशयः सुप्रसिद्ध इति गम्यते । तैः श्रुतमपि दुर्ज्ञेयमित्याह --नहीति । तत्र हेतुमाह---यत इति । ननु नाणुपरिमाणस्तत्कथमणुरात्माऽत आह--सूक्ष्म इति । दुर्विज्ञय इत्यर्थः । पूर्वं सुविज्ञेयमिति वस्तुशब्देन निर्देश इहाऽऽत्मशब्देनेति पुंलिङ्गनिर्देशः । अत इति । आत्मज्ञानादित्यर्थः । असंदिग्धफलं पशुपुत्रादि । उपरोधं निर्बन्धम् । तत्र दृष्टान्तमाह — अधमर्णमिवेति । उत्तमर्णो धनिकः । अधमर्णः प्रतिग्रहीता ॥ २१ ॥

एवमुक्तो नचिकेता आह—

देवैरत्रापि विचिकित्सितं किल त्वं च मृत्यो यन्न
सुज्ञेयमात्थ । वक्ता चास्य त्वादृगन्यो न लभ्यो
नान्यो वरस्तुल्य एतस्य कश्चित् ॥ २२ ॥

देवैरत्राप्येतस्मिन्वस्तुनि विचिकित्सितं किलेति भगवन्नेव नः श्रुतम् ।

---

१ घ. ञ. सुविज्ञे° । २ ग. घ. च. °ष्ट विनु° । ३ ख. ञ. °ष्व मां । ४ ग. च. मा मो° । ५ ङ. ञ. ट. °रुत्सीस्तदुप° । ६ ञ. ठ. °य इति° । ७ ख. ञ. नचिकेता उवाच दे° । ८ क. ङ. ट. सुविज्ञे° । ९ घ. भगव° । १० क. ख. ञ. एवोपश्रु° । ङ. एव ननु श्रु° । ङ. ट. एव श्रु° ।

त्वं च मृत्यो यस्मान्न सुज्ञेयमात्मतत्त्वमात्थ कथयस्यतः पण्डितैरप्यवेदनीयत्वाद्वक्ता चास्य धर्मस्य त्वादृक्त्वत्तुल्योऽन्यः पण्डितश्च न लभ्योऽन्विष्यमाणोऽपि । अयं तु वरो निःश्रेयसप्राप्तिहेतुरतो नान्यो वरस्तुल्यः सदृशोऽस्त्येतस्य कश्चिदप्यनित्यफलत्वादन्यस्य सर्वस्यैवेत्यभिप्रायः ॥ २२ ॥

---

आ० टी०—॥ २२ ॥

---

गो० टी०—उपदेशनीयत्वा[illegible] त्वमु[illegible]शेषे द्रष्टव्यः । ननु पण्डितैरुपदेशनीयत्वेऽन्ये पण्डिताः सन्ति तत्र [illegible] आह—वक्तेति । धर्मस्यात्माख्यस्य । न लभ्य इति [illegible]ऽऽह—अन्विष्यमाणोऽपीति । यद्यपि लोके यमादन्ये ब्रह्मविदः सन्ति तथापि यमस्य [illegible]त्वादन्यत्र गमनमाशङ्क्यैवमुक्तम् । एतस्य कश्चिदपि तुल्यो वरो नेत्यन्वयः । तात्पर्यार्थमाह—अनित्येति ॥२२॥

एवमुक्तोऽपि पुनः प्रलोभयन्नुवाच मृत्युः—

> शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व बहून्पशून्हस्तिहिरण्य-
> मश्वान् । भूमेर्महदायतनं वृणीष्व स्वयं च जीव
> शरदो यावदिच्छसि ॥ २३ ॥

शतायुषः शतं वर्षाण्यायूंषि येषां ताञ्शतायुषः पुत्रपौत्रान्वृणीष्व । किंच गवादिलक्षणान्बहून्पशून् । हस्तिहिरण्यं हस्ती च हिरण्यं च हस्तिहिरण्यम् । अश्वांश्च । किंच भूमेः पृथिव्या महद्विस्तीर्णमायतनमाश्रयं मण्डलं राज्यं वृणीष्व । किंच सर्वमप्येतदनर्थकं स्वयं चेदल्पायुरित्यत आह—स्वयं च जीव त्वं जीव धारय शरीरं समग्रेन्द्रियकलापं शरदो वर्षाणि यावदिच्छसि जीवितुम् ॥ २३ ॥

---

आ० टी०—॥ २३ ॥

---

गो० टी०—[illegible] । [illegible] देयत्वाभिप्रायेण यत्नस्य पुनरुक्तिरित्याह—स्वयमित्यादिना । [illegible] । हस्ती चेति जातेकर-

---

१ ज सुविज्ञे° । २ [illegible] ज. [illegible] ट [illegible] । ३ घ. °मात्म° । अ° । ४ ख. ग. घ. च. शतव° । ५ ख. °त वयम° । ६ ङ. ठ. °त्रानुत[illegible] वृणी° । ७ घ. °शून्हस्ती । ८ क. ग. °लं साम्राज्यं वृ° । च [illegible] अ. ट. लं [illegible] । ९ क. [illegible] . च. ज. °रिति चाऽऽह । १० ग. घ. च. °यं त्वं । ११ ङ. °व जी° । ञ. ज. ट. ठ. °व धा° ।

चनं हिरण्यमित्यपि । आयतनशब्दो जनपदरक्षणे लक्षणया वर्तत इत्याह—मण्डलेति । चत्वारिंशद्योजनमिते देशे सम्राजः कर्म साम्राज्यं जनपदरक्षणमित्यर्थः । धारणकर्म दर्शयति—शरीरमिति । इन्द्रियपाटवादिशून्यजीवनस्याप्रयोजनत्वादाह—समग्रेति । समग्राः संपूर्णा अविकला इति यावत् । जीवितुं यावदिच्छसि तावद्धारयेत्यन्वयः ॥ २३ ॥

**एतत्तुल्यं यदि मन्यसे वरं वृणीष्व वित्तं चिरजीविकां च । महाभूमौ नचिकेतस्त्वमेधि कामानां त्वा कामभाजं करोमि ॥ २४ ॥**

**एतत्तुल्यमेतेन यथोपदिष्टेन सदृशमन्यमपि यदि मन्यसे वरं तमपि वृणीष्व । किंच वित्तं प्रभूतं हिरण्यरत्नादि चिरजीविकां च सह वित्तेन वृणीष्वेत्येतत् । किं बहुना महत्यां भूमौ राजा नचिकेतस्त्वमेधि भव । किंचान्यत्कामानां दिव्यानां मानुषाणां च त्वा त्वां कामभाजं कामभागिनं कामार्हं करोमि सत्यसंकल्पो ह्यहं देवः ॥ २४ ॥**

आ० टी०—एकैकं पुत्रधनादीनां वरत्वेनोपन्यस्य समुच्चितमिदानीमुपन्यस्यति—**किंच वित्तं प्रभूतमिति** । अस् भुवीतिधातोर्लोण्मध्यमपुरुषैकवचनान्तस्य निपात एधीति ततो भवेति व्याख्यातम् ॥ २४ ॥

गो० टी०—सदृशमित्यधिकोपलक्षणार्थम् । प्रथमोऽपिशब्दः पुत्रादिसमुच्चयार्थो द्वितीयो वरसमुच्चयार्थः । अथ पुत्रधनादीनामेकैकपरत्वेनोपन्यस्य समुच्चितमिदानीमुपन्यस्यति—**किंच वित्तं प्रभूतमिति** । प्रभूतमधिकं हिरण्यं रत्नमादिर्यस्य तत्तथा । चशब्दार्थमाह—**सहेति** । क्रियापदानुषङ्गमाह—**वृणीष्वेति** । भवनक्रियायाः कर्तारमध्याहरति—**राजेति** । अस भुवीतिधातोर्लोण्मध्यमैकवचनान्तस्यैधीति । दिव्यानां दिवि भवा दिव्या रम्भोर्वशीकल्पवृक्षकामधेन्वादयस्तेषां मानुषाणां मनुष्यसंबन्धिनो मानुषाः स्रक्चन्दनवनितादयस्तेषां च । कामार्हं कामयोग्यमित्यर्थः । नन्वकृतकर्मणः पुंस इष्टप्रदाने तव सामर्थ्यं कुत इत्याशङ्क्याऽऽह—**सत्यसंकल्प इति** । हि यस्मादहं देवोऽप्रतिहतज्ञानैश्वर्यतेजोबलवांस्तस्मात्सत्यसंकल्पः । तस्मात्सामर्थ्यं यमस्येत्यर्थः ॥ २४ ॥

**ये ये कामा दुर्लभा मर्त्यलोके सर्वान्कामाꣳश्छन्दतः प्रार्थयस्व । इमा रामाः सरथाः सतूर्या न हीदृशा लम्भनीया मनुष्यैः । आभिर्मत्प्रत्ताभिः**

---

१ ङ. झ. ञ. ट. °म्यदपि । २ क. ख. ञ. °ना महाभूमौ म° । ३ क. ङ. °नुष्याणां ।

परिचारयस्व नचिकेतो मरणं माऽनुप्राक्षीः ॥२५॥

ये ये कामाः प्रार्थनीया दुर्लभाश्च मर्त्यलोके सर्वांस्तान्कामांश्छन्दत[1] इच्छातः[2] प्रार्थयस्व । किंचेमा दिव्या अप्सरसो रमयन्ति पुरुषानिति रामाः सह रथैर्वर्तन्त इति सरथाः । सतूर्याः सवादित्रास्ताश्च न हि लम्भनीयाः प्रापणीया ईदृशा एवंविधा मनुष्यैर्मर्त्यैरस्मदादिप्रसादमन्तरेण । आभिर्मत्प्रत्ताभिर्मया दत्ताभिः परिचारिणीभिः[3] परिचारयस्वाऽऽत्मानं पादप्रक्षालनादिशुश्रूषां कारयाऽऽत्मन इत्यर्थः । नचिकेतो मरणं मरणसंबद्धं प्रश्नं प्रेतेऽस्ति[4] नास्तीति काकदन्तपरीक्षारूपं माऽनुप्राक्षीर्मैवं प्रष्टुमर्हसि ॥ २५ ॥

आ० टी०—॥ २५ ॥

गो० टी०—कामा इत्यस्य व्याख्या प्रार्थनीया इति । दिवि भवाः पुरुषा अननुकूला न भोग्या इत्याशङ्क्याऽऽह—रमयन्तीति । ननु पुरुषरमयितृत्वं भूलोकस्थानामपीत्याशङ्क्य भौमस्त्रीवैलक्षण्यमाह—सहेत्यादिना । तूर्यं वाद्यविशेषो वादित्रं हस्तवाद्यम् । ननु देवप्रसादादीदृशा अपि प्रापणीया इत्याह—अस्मदादीति । आभिः पूर्वोक्ताभिरात्मानं परिचारयस्वेति योजना । तात्पर्यार्थमाह—पादेति । मरणशब्दस्य तत्संबन्धिनि प्रश्ने लक्षणामभिप्रेत्याऽऽह—मरणसंबद्धमिति । काकदन्तपरीक्षारूपं प्रश्नं माऽनुप्राक्षीर्मा कार्षीरित्यर्थः । माऽनुप्रयोगस्यार्थमाह—मैवमिति ॥ २५ ॥

एवं[5] प्रलोभ्यमानोऽपि नचिकेता महाह्रदवदक्षोभ्य आह[6]—

श्वोभावा मर्त्यस्य यदन्तकैतत्सर्वेन्द्रियाणां जरयन्ति तेजः । अपि सर्वं जीवितमल्पमेव तवैव वाहास्तव नृत्यगीते ॥ २६ ॥

श्वो भविष्यन्ति न भविष्यन्ति[7] वेति संदिह्यमान एव येषां भावो भवनं त्वयोपन्यस्तानां भोगानां ते श्वोभावाः । किंच मर्त्यस्य[8] मनुष्यस्यान्तक हे मृत्यो यदेतत्सर्वेन्द्रियाणां तेजस्तज्जरयन्त्यपक्षयन्त्यप्सरःप्रभृतयो[9]

1 क °न्दतः प्रा° । ङ. झ. ञ. ट. °न्दतश्छन्देन प्रा° । 2 ग. घ. च. °च्छातो मत्तः प्रा° । 3 घ. °चारणी° । 4 क. घ. ङ. च. प्रेत्यास्ति । 5 झ. ञ. ठ. °वं मृत्युना प्र° । 6 ग. घ. ङ. झ. ञ. ट. °ह । श्वोभावाः श्वो भवि° । 7 घ. च. °न्ति वेति । 8 घ. च. °नमेव । 9 च. झ. °यो हि भो° ।

भोगा अनर्थायैवैते । धर्मवीर्यप्रज्ञातेजोयशःप्रभृतीनां क्षपयितृत्वात् । यां चापि दीर्घजीविकां त्वं दित्ससि तत्रापि शृणु । सर्वं यद्ब्रह्मणोऽपि जीवितमायुरल्पमेव किमुताल्पदादिदीर्घजीविका । अतस्तवैव तिष्ठन्तु वाहा रथादयस्तथा नृत्यगीते च ॥ २६ ॥

आ० टी० —॥ २६ ॥

गो० टी० —सर्वतो विरक्तस्य शमादिमतो ज्ञानाधिकार इत्याख्यायिकया सूच-यन्नुत्तरमवतारयति — मृत्युनेति । एवं पुत्रादिना प्रकारेण त्वया यमनोपन्यस्तान-मुपाहृतानां येषां भवनं संदिग्धमनमेव त इत्यन्वयः । अपि च न ते पुरुषोपकारिण इति निन्दायामतिशयमाह-किंचेत्यादिना । अक्षयं नाशं कुर्वन्ति । क इत्यपेक्षा-यामाह—अप्सरःप्रभृतय इति । हिशब्देन प्रत्यक्षानुमानाभ्यां विषयाणां तेजःक्षप-यितृत्वं प्रसिद्धमेव द्योत्यते । अथवा हि यस्मादप्सरःप्रभृतयः क्षपयन्ति तस्मादेतेऽ-नर्थायैवेत्युत्तरेणान्वयः । तत्र पूर्वोक्तं तेजःक्षपयितृत्वमुपलक्षणीकृत्य हेतुमाह-धर्मेति । धर्म इष्टापूर्तादि वीर्यं सामर्थ्यं प्रज्ञा शास्त्रार्थावगाहनशक्तिस्तेजः प्रागल्भ्यं त्वगता वा दीप्तिर्यशः कीर्तिः । ननु त्वयोक्तं सत्यं तथाऽपि चिरंजीविने विषयोपभोगः पुरु-षार्थ इत्याशङ्क्य तत्रापि दोषं शृण्वित्याह—यां चापीति । चकारापिकारौ विषय-दोषसमुच्चयार्थौ । दित्ससि दातुमिच्छसि । श्रुतिस्थापिशब्दपतितं पूरयित्वा क्रिया-पदमध्याहरति—शृण्विति । सर्वशब्दप्रयोगाद्धिरण्यगर्भायुर्गृह्यते । सर्वायुषां तत्रान्त-र्भावात् । एवकारद्योतितकैमुतिकन्यायमाह—किमुतेति । जीविका यत एवं जाताऽ-तस्तदधीनविषयभोगस्तुच्छ इत्याह—अत इति ॥ २६ ॥

न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यो लप्स्यामहे वित्तमद्राक्ष्म चेत्त्वा[5] । जीविष्यामो यावदीशिष्यसि त्वं वरस्तु मे वरणीयः स एव ॥ २७ ॥

किंच न प्रभूतेन वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः । न हि[6] लोके वित्तलाभः कस्यचित्तृप्तिकरो दृष्टः । यदि नामास्माकं वित्ततृष्णा स्याल्लप्स्यामहे[7] प्राप्स्यामह इत्येतद्वित्तमद्राक्ष्म दृष्टवन्तो वयं चेत्त्वा त्वाम् । जीवितमपि तथैव जीविष्यामो यावद्धर्म्ये[8] पदे त्वमीशिष्यसीशिष्यसे[9] प्रभुः स्याः ।

१ घ. ङ. °नाम् । अक्षयि° । २ ङ. झ. ञ. ट. ठ. °णु यत्सर्वं । ३ क. ङ. °विकामत° । ४ क. ख. ज. °था तव नृ° । ५ झ. ट. चेत्त्वाम् । ६ ग. घ. च. °हि वित्तलाभो लोके क° । ७ ग. घ. च. ञ. °वितेऽपि । ८ घ. °द्याम्यप° । ९ क ख. च. °ष्यसि त्वमीशि° । घ. च. °प्यसि प्र° ।

**कथं हि मर्त्यस्त्वया समेत्याल्पधनायुर्भवेत्। वरस्तु मे वरणीयः स एव यदात्मविज्ञानम् ॥ २७ ॥**

---

आ० टी०—॥ २७ ॥

---

गो० टी०-दृढवैराग्यार्थं पूर्वोक्तं सर्वं निन्दनीयमित्याह-**किंचेति** । प्रभूतेनाधिकेन तर्पणीयः प्रीणनीयः । ननु वित्तं चेत्प्रीतिकरं भवत्येवेति चेन्नेत्याह-**न हीति** । हिशब्देन तृप्तिकरत्वाभावो लोके प्रसिद्ध इति द्योत्यतेऽर्थानामर्जने दुःखमिति न्यायात् । किंचातृप्तिकरे वित्ते तृष्णैव नास्ति । अथापि नामास्तु तथाऽपि वरं विनैव लप्स्यामह इत्याह-**यदि नामेति** । त्वां वयं दृष्टवन्तश्चेद्वित्तं लप्स्यामहे प्राप्स्यामह इत्यन्वयः । वित्तन्यायमन्यत्राप्यतिदिशति—**जीवितेऽपीति** । याम्ये यमस्य स्थानं याम्यं तस्मिन्नित्थत्वेति शेषः । ईशिष्यसीति परस्मैपदं छान्दसमित्याह – **ईशिष्यस इति** । **प्रभुरिति** । पुण्यपापवतां नियामकः स्याः । यावत्कालं प्रभुः स्यास्तावत्कालं त्वद्दर्शनेन जीविष्याम इत्यन्वयः । त्वद्दर्शनेनैव सर्वं लप्स्यामहे किमुत त्वया समेत्य त्वत्समीपं प्राप्य संभाषणादिकं कृत्वेति कैमुतिकन्यायं मनसि निधायाऽऽह-**कथं हीति** । हिशब्देन देवतासमागमादिनाऽभीप्सितप्राप्तिः श्रुतिस्मृतिलोकसिद्धेत्युच्यते । अल्पेति धनायुषोर्विशेषणम् । किं तवेप्सितं तदाह-**वर इति** । किं तदाह-**यदिति** ॥ २७ ॥

**अजीर्यताममृतानामुपेत्य जीर्यन्मर्त्यः क्वधःस्थः प्रजानन् । अभिध्यायन्वर्णरतिप्रमोदानतिदीर्घे जीविते को रमेत ॥ २८ ॥**

यतश्चाजीर्यतां वयोहानिमप्राप्नुवताममृतानां सकाशमुपेत्योपगम्याऽऽत्मन उत्कृष्टं प्रयोजनान्तरं प्राप्तव्यं तेभ्यः प्रजानन्नुपलभमानः स्वयं तु जीर्यन्मर्त्यो जरामरणवान्क्वधःस्थः कुः पृथिव्यधश्चान्तरिक्षादिलोकापेक्षया तस्यां तिष्ठतीति क्वधःस्थः सन्कथमेवमविवेकिभिः प्रार्थनीयं पुत्रवित्तहिरण्याद्यस्थिरं वृणीते । क तदास्थ इति वा पाठान्तरम् । अस्मिन्पक्षे चाक्षरयोजना तेषु पुत्रादिष्वास्थाऽऽस्थितिस्तात्पर्येण वर्तनं यस्य स तदास्थस्ततोऽधिकतरं पुरुषार्थं दुष्प्रापमपि प्रापिपयिषुः क तदास्थो भवेन्न कश्चित्तदसारज्ञस्तदर्थी स्यादित्यर्थः । सर्वो ह्युपर्युपर्येव बुभूषति

---

१ झ. क्वधस्थः । ञ. ट. क्वधस्तः । २ क. ख. ज. °ममर्त्यानां । ३ क. ख. ग. °लभ्यमा° । ४ घ. °व्यधोऽन्त° । ङ. झ. ञ. ट. °व्यधश्चासावन्त । ५ घ. °थम° । ६ घ. °ति पा° । ७ घ. °म् । तस्मि° । ८ घ. °क्षेऽक्ष° । ९ झ. ञ. ट. °दास्थो जरामरणवांस्त° । १० घ. °तरपु° । ११ घ. ङ. प्रापयिष्णुः ।

ल्लोकस्तस्मान्न पुत्रवित्तादिलोभैः प्रलोभ्योऽहम् । किंचाप्सरःप्रमुखान्व-र्णरतिप्रमोदाननवस्थितरूपतयाऽभिध्यायन्निरूपयन्यथावदतिदीर्घे जी-विते को विवेकी रमेत ॥ २८ ॥

आ० टी०—किंचोत्कृष्टपुरुषार्थलाभे संभवत्यधमं कामयमानो मूर्ख एवाहं स्यां ततोऽपि मम स एव वर इत्याह—यतश्चाजीर्यताभित्यादिना ॥ २८ ॥

गो० टी०—किंचोत्कृष्टपुरुषार्थलाभे संभवत्यधमं कामयमानो मूर्ख एव स्यात्ततो मम स एव वर इत्याह—यतश्चाजीर्यतामित्यादिना । सकाशं निकटं तेभ्यो वित्ता-दिभ्यो देवेभ्यो वा प्रयोजनान्तरं प्राप्तव्यमित्यन्वयः । ननु सर्वे किमिति प्रार्थयन्ते वित्तादि दोषं पश्यन्त इत्याशङ्क्याविवेकित्वात्तेषां विवेकिनो मम न प्रार्थनेत्याह—प्रजा-नान्निति । तेभ्यः प्राप्तव्यं प्रयोजनं प्रजानान्नित्यन्वयः । एवमविवेकिवद्गीत इत्यन्वयः । प्रजानन्प्रयोजनमुपलभमानः क तदास्थ इत्यन्वयं मनसि निधाय पाठान्तरं व्याचष्टे—अजिर्नाक्ष इति । नन्वधिकतरपुरुषार्थानवगमे तेषु पुत्रादिष्वास्था स्यादित्याशङ्क्या-पेक्षितं पूरयति—तत इति । दुष्प्रापमपीतरजनैरिति शेष । दुष्प्रापमप्यधिकतरं पुरु-षार्थं प्रापिपयिषुः क तदास्थो भवेदित्यन्वयः । तात्पर्यार्थमाह—न कश्चिदिति । तत्र हेतुमाह—सर्व इति । बुभूषति भवितुमिच्छति । इयता प्रबन्धेनोक्तस्य प्रयोजनमाह—तस्मादिति । यस्मादहं विवेकादिमांस्तस्मादित्यर्थः । वर्णा गीतीः रतिः क्रीडा प्रमोद-स्तज्जं सुखं निरूपयन्यथावदुत्पत्तिस्थितिनाशैर्विचारयन्नित्यन्वयः । अतिदीर्घे बहुसं-वत्सरपरिमिते जीविते जीवने प्राणधारणे ॥ २८ ॥

यस्मिन्निदं विचिकित्सन्ति मृत्यो यत्सांपराये महति
ब्रूहि नस्तत् । योऽयं वरो गूढमनुप्रविष्टो नान्यं
तस्मान्नचिकेता वृणीते ॥ २९ ॥

इति काठकोपनिषदि प्रथमाध्याये प्रथमा वल्ली समाप्ता ॥ १ ॥

अतो विहायानित्यैः कामैः प्रलोभनं यन्मया प्रार्थितं यस्मिन्प्रेत इदं विचिकित्सनं[1] विचिकित्सन्त्यस्ति नास्तीत्येवंप्रकारं हे मृत्यो सांपराये परलोकविषये महति महत्प्रयोजननिमित्त आत्मनो निर्णयविज्ञानं यत्त-द्ब्रूहि कथय नोऽस्मभ्यम् । किं बहुना [3]योऽयं प्रकृत आत्मविषयो वरो गूढं [4]गहनं दुर्विवेचनं प्राप्तोऽनुप्रविष्ट[5]स्तस्मा[6]द्वरादन्यमविवेकिभिः

१ ग. घ. च. ञ. ट. 'दिलोभैः' । २ ङ. झ. ञ. ट. 'कित्सितं वि°' । ३ क. ख. 'कृतात्म' । ४ इ, झ. ञ ट. गृहनं । ५ ग. घ. ङ. च. 'विष्टो वरा°' । ६ ख. ग. घ. ङ. च. °स्तद्°' ।

प्रार्थनीयमनित्यविषयं वरं नचिकेता न वृणीते मनसाऽपीति श्रुतेर्वचनमिति ॥ २९ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-
श्रीमदाचार्यश्रीशंकरभगवतः कृतौ काठकोपनिषद्भाष्ये
प्रथमाध्याये प्रथमवल्लीभाष्यं समाप्तम् ॥ १ ॥

---

आ० टी०—॥ २९ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविर-
चिते काठकोपनिषद्भाष्यव्याख्याने प्रथमा वल्ली समाप्ता ॥ १ ॥

---

गो० टी०—यतो जीवितेऽप्याशाऽपगताऽतो मम प्रलोभनं विहाय प्रार्थितं प-(व)रं प्रदेहीत्याह—अत इति। परलोकविषयेऽस्ति नास्तीत्येवं प्रकारं यस्मिन्विचिकित्सनं विचिकित्सन्ति तस्याऽऽत्मनो निर्णयविज्ञानं यन्महत्प्रयोजननिमित्तं मोक्षार्थं तद्ब्रूहीत्यन्वयः। नचिकेतस विषयीकृत्यान्यस्याप्यधिकारिनिर्णयार्थं संवादरचितं श्रुतेर्वचनमित्याह—किं बहुनेति ॥ २९ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्यश्रीमद्बालगोपालेन्द्रयतीश्वरविरचिते काठ
कोपनिषद्भाष्यविवरणे प्रथमाध्याये प्रथमा वल्ली समाप्ता ॥ १ ॥

---

परीक्ष्य शिष्यं विद्यायोग्यतां चावगम्याऽऽह[1]—

**अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव[3] प्रेयस्ते उभे नानार्थे पुरुषꣳ सिनीतः। तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीते ॥ १ ॥**

अन्यत्पृथगेव श्रेयो निःश्रेयसं तथाऽन्यदुताप्येव प्रेयः प्रियतरमपि ते[4] प्रेयःश्रेयसी उभे नानार्थे भिन्नप्रयोजने सती पुरुषमधिकृतं वर्णाश्रमादिविशिष्टं सिनीतो बध्नीतस्ताभ्यामात्मकर्तव्यतया[5] प्रयुज्यते सर्वः पुरुषः[6]। श्रेयःप्रेयसोर्ह्यभ्युदयामृतत्वार्थी[7] पुरुषः प्रवर्तते। अतः श्रेयःप्रेयःप्रयोजनकर्तव्यतया[8] ताभ्यां बद्ध इत्युच्यते सर्वः पुरुषः[9]। ते यद्यप्येकैकपुरुषार्थसंबन्धिनी[10] विद्याविद्यारूपत्वाद्विरुद्धे। इत्यन्यतरापरि-

१ ग. ङ. ञ. चास्याव°। २ ख. ज. मृत्युरुवाच। अ°। ३ क. ङ. ज. °दुत एवापि च प्रे°। घ. च. °दुतापि च प्रे°। ४ ङ. झ. ञ. ट. °ते श्रेयःप्रेय°। ५ क. ख. ज. °स्ताभ्यां विद्याविद्याभ्यामा°। ६ च. °पः। श्रेयःप्रेय°। ७ ञ. °र्थी सन्पुरु°। ८ झ. °यः क°। ९ ग. झ. ञ. सर्वपु°। १० घ. झ. ञ. ट. °रुषसं°।

त्यागेनैकेन पुरुषेण सहानुष्ठातुमशक्यत्वात्तयोर्हित्वाऽविद्यारूपं प्रेयः श्रेय एव केवलमाददानस्योपादानं कुर्वतः साधु शोभनं शिवं भवति । यस्त्व-दूरदर्शी विमूढो हीयते वियुज्यतेऽस्मादर्थात्पुरुषार्थात्पारमार्थिकात्प्रयोज-नान्नित्यात्प्रच्यवत इत्यर्थः । कोऽसौ य उ प्रेयो वृणीत उपादत्त इत्येतत् ॥ १ ॥

आ० टी०—अभ्युदयनिःश्रेयसविभागप्रदर्शनेन विद्याविद्याविभागप्रदर्शनेन च केवलविद्यार्थितया शिष्यं प्रथमं स्तौतीत्याह परीक्ष्येति । श्रेयःप्रेयसोरन्यतरपरित्या-गेनैवान्यतरोपादाने हेतुमाह—ते यद्यपीति । ते यद्यप्येकैकपुरुषसंबन्धिनी तथाऽपि विरुद्धे ॥ १ ॥

गो० टी०-अभ्युदयनिःश्रेयसविभागप्रदर्शनेन विद्याविद्याविभागप्रदर्शनेन च केवल-विद्याप्रार्थितया शिष्यं प्रथमं स्तौतीत्याह—परीक्ष्येति । अवगम्य तस्मिन्निति शेषः । पृथगेव प्रेयसः सकाशादित्यर्थः । निःश्रेयसं मोक्षस्तत्साधनत्वाज्ज्ञानमत्र निःश्रेयसम् । तथेति । यथा श्रेयः पृथक्तथेत्यर्थः । नियतरमप्यभ्युदयसाधनं ज्योतिष्टोमाद्यस्तीत्य-न्वयः । भिन्न प्रयोजने ययोस्ते भिन्नप्रयोजने । अधिकृतमित्यस्य विशेषणम्—वर्णा-श्रमादीति । आदिपदेन वयोवस्थादिपरिग्रहः । वर्णविशिष्टस्याधिकारे—“ ब्राह्मणो बृहस्पतिसवेन यजेत ” इत्यादि शास्त्रं प्रमाणम् । आश्रमविशिष्टस्याधिकारे—“गृहस्थः सदृशीं भार्यामुपेयात् ” इत्यादि । वयोविशिष्टस्याधिकारे—“ जातपुत्रः कृष्णके-शोऽग्नीनादधीत ” इत्यादि । अवस्थाविशिष्टस्याधिकारे—“ अविचिकित्स्यतत्व्याधेरपां प्रवेशो वा ” इत्यादि प्रमाणम् । षिञ् बन्धन इति धातोरर्थमादाय व्याचष्ट—सिनीत इति । ननु विद्याविद्ययोः कथं बन्धकत्वमित्यत आह—ताभ्यामिति । सर्वः कर्मणि वर्णाश्रमादिविशिष्टोऽधिकृतो विद्यायां साधनचतुष्टयसंपन्नस्ताभ्यां प्रयुज्यते । तयोः प्रेरकत्वं वा कथमित्याशङ्क्याऽऽह—आत्मकर्तव्यतयेति । आत्मनि विद्याविद्ययोः कर्तव्यता वृत्तिसाध्यता तथा । विधितस्तद्विषयज्ञानेनेत्यर्थः । ननु वेद्यकर्तव्यताज्ञानद्वारा विद्याविद्याभ्यां पुरुषः प्रेर्यत इत्ययुक्तं विधेर्विशेषकर्तव्यताबोधकत्वात्सामान्यतः सिद्धे केनचित्कर्तव्यताज्ञाने तत्स्थात्तदेव नास्तीत्याशङ्क्याऽऽह—श्रेयःप्रेयसोरिति । अभ्यु-दयार्थी प्रेयसि कर्मण्यमृतत्वार्थी श्रेयसि मोक्षसाधने प्रवर्तत इति यथासंख्यमन्वयः । एवं फलकामनया सामान्यतस्तत्साधनं कार्यमिति ज्ञानमभूदिति भावः । हिशब्दः प्रसिद्धिद्योतकः । यद्वोतरत्रान्वेति । हि यस्मात्सामान्येन कामनया कर्तव्यताज्ञानं

१ ख. ग. ङ. च. °ते कस्मा° ।

सिद्धमत इत्युपसंहारेणान्वयः । श्रेयसे प्रेयसे च कर्तव्ये विद्याविद्ये तयोर्भावः कर्तव्यता तयेत्यर्थः । ताभ्यां विद्याविद्याभ्याम् । ननु कर्मणो जन्मादिहेतुत्वेन बन्धकत्वेऽपि विद्यायास्तन्निवर्तकत्वात्कथं बन्धकत्वमिति चेत्कर्मणो जन्मादिहेतुत्वेनाऽऽभेन च विद्याया बन्धकत्वमिति भावः । तयोरन्यतरत्यागेनान्यतरपरिग्रहे हेतुमाह—ते यद्यपीति । तथाऽपि विरुद्धे । तत्र हेतुः—विद्येति । इति यस्मादर्थे । यस्माद्विद्याविद्ये विरुद्धे तस्मादन्यतरापरित्यागेनानुष्ठातुमशक्यत्वादित्यन्वयः । नन्वेकेनैका परेणापरा कर्तुं शक्येत्यत आह—एकेनेति । ननु क्रमेणानुष्ठातुं शक्येत्यत आह—सहेति । हेतुमुपन्यस्याक्षराणि गृहीत्वा व्याचष्टे—तयोरिति । निर्धारणे षष्ठी । अविद्यारूपं कर्म प्रेयो हितमित्यन्वयः । अपेक्षिताध्याहारेण सर्वं वाक्यं सावधारणमिति न्यायेनाऽऽह—श्रेय एवेति । शिवमानन्दरूपम् । विद्योपादातुः श्रेय इत्युक्त्वा तद्विपरीतस्यानर्थप्राप्तिमाह—यस्त्विति । तुशब्दोऽविद्योपादातुर्वैलक्षण्यार्थः । अदूरदर्शीत्यस्य व्याख्या विमूढ इत्यविवेकीत्यर्थः । ननु कर्मकर्तुः फलं स्यादिति शङ्कते—कस्मादिति । नन्वर्थान्न हीयत इत्युक्तमत आह—पारमार्थिकादिति । मोक्षादित्यर्थः । ननु मोक्षः स्वर्गादिनश्वरम इत्यत आह—नित्यादिति । विमूढत्वमक्षरव्याख्यानेन दर्शयति—कोऽसाविति । उ एवोपादत्तेऽनुतिष्ठतीत्यर्थः । इत्येतदुपादत्त इत्युक्ते यावानर्थस्तावन्तं वृणीत इत्यर्थः ॥ १ ॥

---

यद्युभे अपि कर्तुं स्वायत्ते पुरुषेण किमर्थं प्रेय एवाऽऽदत्ते बाहुल्येन लोक इत्युच्यते—

श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतस्तौ संपरीत्य विविनक्ति
धीरः । श्रेयो हि धीरोऽभि प्रेयसो वृणीते प्रेयो
मन्दो योगक्षेमाद्वृणीते ॥ २ ॥

सत्यं स्वायत्ते तथाऽपि साधनतः फलतश्च मन्दबुद्धीनां दुर्विवेकरूपे सती व्यामिश्रीभूते[1] इव मनुष्यमेतं[2] पुरुषमा इतः[3] प्राप्नुतः श्रेयश्च प्रेयश्च । अतो हंस इवाम्भसः पयस्तौ श्रेयःप्रेयःपदार्थौ संपरीत्य सम्यक्परिगम्य[4] मनसाऽऽलोच्य गुरुलाघवं[5] विविनक्ति पृथक्करोति धीरो धीमान् । विविच्य[6] च श्रेयो हि श्रेय एवाभिवृणीते[7] प्रेयसोऽभ्यर्हितत्वात् । कोऽसौ धीरः । यस्तु मन्दोऽल्पबुद्धिः स विवे-

---

१ ग. घ. ङ. च. इवैते । २ झ. ञ. ट. °नुष्यं पु° । ३ झ. ञ. ट. इतोऽश्नुतः प्रा° । ४ क. ख. घ. ञ° °म्य सम्यङ्मन° । ५ ङ. झ. ञ. °लोक्य गु° । ६ क. ख. ञ. °च्य श्रे° । ७ क. ङ. °ते श्रेय° । ८ झ. ञ. ट. सदसद्विवे° ।

कासामर्थ्याद्योगक्षेमाद्योगक्षेमनिमित्तं शरीराद्युपचयरक्षणनिमित्तमित्येतत्प्रेयः पशुपुत्रादिलक्षणं वृणीते ॥ २ ॥

आ० टी०—॥ २ ॥

गो० टी०—नन्वधिकृतेन पुरुषेणोभे अपि विद्याविद्ये कर्तुमन्वायत्ते यदि तर्हि किमर्थं पुरुषो बाहुल्येन श्रेय एव न गृह्णातीत्याशङ्क्य सत्यं द्वे अपि स्वाधीने तथाऽपि फलतः साधनतो मन्दमतीनामशक्ये मिलिते इव प्रेयःश्रेयसी पुरुषमधिकृतं प्राप्नुत इत्याह—यद्युभे इत्यादिना । एत इत्याङ्पूर्वकेणागताविति धातो रूपमित्याह—आ इत इति । तस्य व्याख्याऽश्नुत इति । तद्व्याचष्टे—प्राप्नुव इति । परस्परसमुच्चयार्थौ चकारौ व्यामिश्रद्योतकौ । यतः श्रेयःप्रेयसोः स्वरूपतः फलतश्च विवेकाभावाल्लोकः प्रेय एवाऽऽदत्तेऽतो बुद्धिमान्हंसो यथाऽम्भसः सकाशात्क्षीरं विविच्य भुङ्क्ते तथा प्रेयसः सकाशाद्विविच्य श्रेयो ज्ञात्वा तदेव साधनैः संपादनीयमित्याह—अत इत्यादिना । गुरुलाघवमिति । कर्मणोऽनुष्ठाने महानायासः फलमपि दुःखसंवलितं विद्याप्राप्तावन्वयव्यतिरेकदृष्टानर्थनिवृत्तिरानन्दावाप्तिर्यत्नाभाव इति विविनक्ति विवेचयति गुरुलाघवमित्यर्थः । नियुक्तं दर्शयति—धीर इति । संस्कृतमतिरिति यावत् । गुरुलाघवविचारस्य फलमाह—श्रेय इति । हिरेवार्थः । छन्दसि प्रादयो व्यवहिताश्चेत्याशयेनाऽऽह—अभिवृणीत इति । तत्र हेतुमाह—प्रेयस इति । कर्तृपदं साकाङ्क्षमाह—कोऽसाविति । यत्पदाध्याहारेण प्रेय इति व्याचष्टे—परिस्त्वाति । तुशब्दो बुद्धिमद्वैलक्षण्यार्थः । अल्पबुद्धिरल्पाऽसंस्कृता बुद्धिर्यस्य सः । प्रेय एव वृणीत इत्यत्र हेतुमाह—विवेकेति । योगस्य प्राप्तस्य क्षेमो रक्षणं तन्निमित्तं तदाह—शरीरेत्यादिना । शरीरेत्यादिशब्देनेन्द्रियादिपरिग्रहः । उपचयो वृद्धिः । तल्लक्षणनिमित्तं तत्स्वरूपनिमित्तम् । प्रेयःशब्दार्थमाह—पश्विति । अत्र श्रेयःशब्दः फलपरः ॥ २ ॥

स त्वं प्रियान्प्रियरूपाꣳश्च कामानभिध्यायन्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः । नैताꣳ सृङ्कां वित्तमयीमवाप्तो यस्यां मज्जन्ति बहवो मनुष्याः ॥ ३ ॥

स त्वं पुनः पुनर्मया प्रलोभ्यमानोऽपि प्रियान्पुत्रादीन्प्रियरूपांश्चाप्सरःप्रभृतिलक्षणान्कामानभिध्यायंश्चिन्तयंस्तेषामनित्यत्वासारत्वादिदोषान्हे नचिकेतोऽत्यस्राक्षीरतिसृष्टवान्परित्यक्तवानस्यहो बुद्धिमत्ता तव नेतामवा-

१ झ. ञ. ढ. °यतलक्ष° । २ ख. घ. °निरयासा° ।

प्रवानसि सृङ्कां सृतिं कुत्सितां मूढजनप्रवृत्तां वित्तमयीं धनप्रायाम् । यस्यां सृतौ मज्जन्ति सीदन्ति बहवोऽनेके मूढा मनुष्याः ॥ ३ ॥

आ० टी०—॥ ३ ॥

गो०टी०—पुत्रादीनां गौणात्मत्वात्प्रियत्वम् । प्रियरूपान्प्रियं रूप्यते जन्यते यैस्तेऽप्सरःप्रभृतिलक्षणास्तदादिस्वरूपान् । चिन्तयन्नित्यपेक्षितं पूरयति—तेषामिति । धूर्तत्वमोक्तेस्तात्पर्यं दर्शयति—अहो इति । अनेन शिष्यस्तुतिः कृता । मूढजनेषु प्रवृत्ता मूढजनप्रवृत्ता तां धनप्रायां धनप्रचुरामित्यर्थः । सृतौ मार्गे । बहुशब्दस्य त्रित्वे न पर्यवसानमित्याह—अनेक इति ॥ ३ ॥

दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता । विद्याभीप्सिनं नचिकेतसं मन्ये न त्वा कामा बहवोऽलोलुपन्त ॥ ४ ॥

तयोः श्रेय आददानस्य साधु भवति हीयतेऽर्थाद्य उ प्रेयो वृणीत इत्युक्तं तत्कस्माद्यतो दूरं दूरेण महताऽन्तरेणैते विपरीते अन्योन्यव्यावृत्तरूपे विवेकाविवेकात्मकत्वात्तमःप्रकाशाविव । विषूची विषूच्यौ नानागती भिन्नफले संसारमोक्षहेतुत्वेनेत्येतत् । के ते इत्युच्यते—या चाविद्या प्रेयोविषया विद्येति च श्रेयोविषया ज्ञाता निर्ज्ञाताऽवगता पण्डितैस्तत्र विद्याभीप्सिनं विद्यार्थिनं नचिकेतसं त्वामहं मन्ये । कस्माद्यस्मादविद्वद्बुद्धिप्रलोभिनः कामा अप्सरःप्रभृतयो बहवोऽपि त्वा त्वां नालोलुपन्त न विच्छेदं कृतवन्तः श्रेयोमार्गादात्मोपभोगाभिवाञ्छासंपादनेन । अतो विद्यार्थिनं श्रेयोभाजनं मन्य इत्यभिप्रायः ॥ ४ ॥

आ० टी०—॥ ४ ॥

गो० टी०—पौनरुक्त्यमाशङ्क्य दूरमेते इति वाक्यस्य व्यावर्त्यां शङ्कामाह—तयोरिति । विशेषो न दृश्यत इति भावः । परिहारमवतारयति—यत इति । दूरमित्यस्य व्याख्या—दूरेणेत्यादि । अन्तरेण भेदेन । एते वक्ष्यमाणे । परस्परभिन्नत्वे हेतुमाह—विवेकेति । तत्र दृष्टान्तः—तम इति । सुब्लोपश्छान्दस इत्याह—विषूच्याविति । भिन्नफलत्वं व्याचष्टे—संसारेति । संसारहेतुरविद्या मोक्षहेतुर्विद्येत्याकाङ्क्षापूर्वकं व्याचष्टे—के ते इति । या कर्मकाण्डे प्रसिद्धा प्रेयोविषया । इति-

१ क. 'ङ्कां संसृ' । २ घ. च. 'वृत्तिं वि' । ३ क. वृत्तय' । ४ ङ. झ. ञ. ट. कामा प्राप्य' । ५ क. त्वां न लो' । ६ ष. पन्तो न ।

शब्दो वेदान्तप्रसिद्धयर्थः । परस्परसमुच्चयार्थश्चकारः । श्रेयो मोक्षो विषयः साध्यं यस्याः सा तथा । प्रसिद्धत्वात्कर्तृपदमाह—पण्डितैरिति । तत्र विद्याविद्ययोर्मध्ये किमतोऽन्यं नचिकेतसं जानाति नेत्याह—त्वामिति । नचिकेतसो विद्यायोग्यतया-माकाङ्क्षापूर्वकमुत्तरवाक्यं हेतुपरत्वेन व्याचष्टे—कस्मादित्यादि । अविद्वद्बुद्धि-प्रलोभिनोऽविवेकबुद्धिवशीकरणसमर्था । काम्यन्त इति कामाः । श्रेयोमार्गोज्ज्ञानमा-र्गाच्च विच्छेदं कृतवन्तो विच्छिन्नसंबन्धं न कृतवन्तः । संबन्धविच्छेदे हेतुमाह—आत्मेति । आत्मनाऽप्सरःप्रभृतिकामेन जनितो यो (?) (य उप)भोगः सुखं तस्य वाञ्छेच्छा तस्या उत्पादनद्वारा न विच्छेदं कृतवन्त इत्यन्वयः । तात्पर्यमाह—अत इति । यतस्तैर्न वशं नीतोऽत इत्यर्थः । भाजनं पात्रं योग्यमित्यर्थः ॥४॥

**अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितं-मन्यमानाः । दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा अन्धे-नैव नीयमाना यथाऽन्धाः ॥ ५ ॥**

ये तु संसारभाजना अविद्यायामन्तरे मध्ये घनीभूत इव तमसि वर्त-माना वेष्ट्यमानाः पुत्रपश्वादितृष्णापाशशतैः स्वयं वयं धीराः प्रज्ञावन्तः पण्डिताः शास्त्रकुशलाश्चेति मन्यमानास्ते दन्द्रम्यमाणा अत्यर्थं कुटिला-मनेकरूपां गतिं गच्छन्तो जरामरणरोगादिदुःखैः परियन्ति परिग-च्छन्ति मूढा अविवेकिनोऽन्धेनैव दृष्टिविहीनेनैव नीयमाना विषमे पथि यथा बहवोऽन्धा महान्तमनर्थमृच्छन्ति तद्वत् ॥ ५ ॥

आ० टी०—॥ ५ ॥

गो० टी०—विद्याभिनिवेशायाविद्याधिकारिणो दर्शयति—ये त्वित्यादिना । संसारभाजनाः संसारयोग्याः । अन्तरं कार्यकरणसंघातसारभूतो मध्यमो देशस्तत्र वर्त-मानास्तादात्म्याभिमानवन्तः । वेष्ट्यमाना बध्यमानाः । कैरित्याकाङ्क्षायामाह—पुत्रेति । पुत्रादितृष्णा एव पाशशतानि तैरित्यर्थः । अत एव स्वयं धीराः प्रज्ञावन्तो वयमेव लौकिके प्रज्ञाशालिनः शास्त्रीयप्रज्ञाशालिन इति मन्यमाना इत्यर्थः । कार्यकारणा-द्यभिमानशालिनां गतिमाह—त इति । यङ्लन्तद्रम गतावित्यिधात्वर्थमादाय दन्द्रम्यमाणा इति पदं व्याचष्टे—कुटिलामित्यादिना । अनेकरूपामुत्तरायणादिरूपां गतिं मार्ग-मिच्छन्तः प्रार्थयन्तः । जराशब्दो दुःखहेत्ववस्थोपलक्षणार्थः । रोगो धातुवैषम्यम् ।

१ क. ज. °माना: प° । २ छ. पर्यन्ति । ३ क. ख. छ. °भाजो ज° । ग. ङ. च. °भाजि-नोऽवि° । घ. °भाजोऽवि° । ४ क. ग. घ. च. °यं धी° । ञ. °यं च धी° । ५ ञ. ञ. द. °स्तेऽतो द° । ६ ञ. गतिमिच्छ° । ७ क ञ. °न्धेनैव । ८ ङ. °व नी° । ९ क. °नैव ।

आदिशब्देन मनःपीडादिपरिग्रहः । तैर्जनितैर्दुःखैः परिगच्छन्ति परितः स्वर्गादिषु भ्रमन्तीत्यर्थः । अविवेकिनः संसारावध्यदर्शिनः । तत्र दृष्टान्तमाह—अन्धेनेवेति । नयनस्थानमाह—विषय इति । कण्टकपाषाणादिगर्तादिसहित इत्यर्थः । यथाऽन्धा इति श्रुतिपदं व्याचष्टे—बहव इति । महान्तमनर्थं कण्टकतोदनपङ्कस्वदेशाविशीर्णत्वा- दिरूपमृच्छन्ति प्राप्नुवन्ति यथा तद्वद्भ्रमन्त्यविवेकिन इत्यन्वयः ॥ ५ ॥

न सांपरायः प्रतिभाति बालं प्रमाद्यन्तं वित्तमो-
हेन मूढम् । अयं लोको नास्ति पर इति मानी
पुनः पुनर्वशमापद्यते मे ॥ ६ ॥

अत एव मूढत्वाच्च सांपरायः[1] प्रतिभाति । संपरेयत[2] [3] इति संपरायः परलोकस्तत्प्राप्तिप्रयोजनः साधनविशेषः शास्त्रीयः । सांपरायः स[4] च बालमविवेकिनं प्रति न[5] प्रतिभाति न प्रकाशते नोपतिष्ठत इत्येतत् । प्रमाद्यन्तं प्रमादं कुर्वन्तं पुत्रपश्वादिप्रयोजनेष्वासक्तमनसं तथा वित्त- मोहेन वित्तनिमित्तेनाविवेकेन[6]:मूढं तमसाऽऽच्छन्नं सन्[7]तमयमेव लोको योऽयं दृश्यमानः[8] स्त्र्यन्नपानादिविशिष्टो[9] नास्ति परोऽदृष्टो[10][11] लोक इत्येवं मननशीलो मानी पुनः पुनर्जनित्वा वशं[12][13] मदधीनतामापद्यते मे मृत्यो- र्मम जननमरणादिलक्षणदुःखप्रबन्धारूढ एव भवतीत्यर्थः । प्रायेण ह्येवं- विध एव लोकः ॥ ६ ॥

आ० टी०—सम्यक्परात्काले देहपातादूर्ध्वमेवेयते गम्यत इति शेषः ॥ ६ ॥

गो० टी०-पूर्वोक्तार्थं हेतुत्वेनाऽऽदायोत्तरं व्याचष्टे—अत एवेति । अतःशब्दा- र्थमाह—मूढत्वादिति । परे काले देहपतनादूर्ध्वं सम्यगीयते गम्यत इति संपरायः । अथवा सम्यक्पर इत्युपलक्षणम् । परापरब्रह्मप्राप्तिकाले प्रारब्धविगमानन्तरमित्यर्थः । तत्प्राप्तिप्रयोजनः परापरब्रह्मप्राप्तिः प्रयोजनं यस्य स तथा । साधनविशेषश्चोंकारध्या- नादिः शास्त्रीयः प्रसिद्धो यः स बालं पुत्रपश्वादिष्वासक्तत्वादविवेकिनं प्रति नोपति- ष्ठते बालो नानुतिष्ठतीत्यर्थः । प्रमादं कुर्वन्तं व्याचष्टे—पुत्रेति । पुत्रादिसाध्यप्रयो- जनेषु न केवलमासक्तमनसं न भाति किंत्वन्यथाऽपीत्याह—तथेति । मूढमिति ।

१ घ. °यः संपरायः । प्र° । २ झ. ट. °पर ईयत इ° । ३ ख. °रे सम्यक्परे काल ईयत °इ । ग. घ. °रे सम्यक्परे लोक ईयत °इ । ४ झ. ञ. ट. स बा° । ५ क. ख. ज. न भा° । ६ क. ग. घ. ङ. च. छ. ज. °नस्तया वि । ७ झ. ञ. सन्तं न त्वय° । ८ च. °मानोऽन्न° । ९ ख. °नः स्त्र्यन्न° ः १० ङ. ञ. °रोऽप्यदृ° । ११ घ. °ष्टो मनुष्याल्लोक । १२ क. वशम° । १३ ख. घ. ञ. °र्शं स म° ।

वित्तातिरिक्तपुरुषार्थमपश्यन्तं तदर्जनादौ व्यासक्तचित्तमित्यर्थः । अत एव तमसाऽऽच्छन्नमित्याह—तमसेति । अविवेकेनेत्यर्थः । तमसा सांपरायो न भातीत्यन्वयः । ननु दुःखासक्ततयाऽयं लोको न भायात्परं तु भातीत्याशङ्क्य कैमुतिकन्यायेनाऽऽह—न स्वयमेवेति । लोकं विशिनष्टि कृपणेति । इतिशब्द उक्तपरामर्शी । मानीति । वित्ततृष्णयाऽभिमानवानित्यर्थः । सकृदुत्पन्नस्य पुनःपुनर्थमवश्यताऽनुपपन्नेत्यत आह—जनित्वेति । प्रबन्धः प्रवाहः । ननु धर्मार्थकामेषु सर्व एव लोक आसक्तश्चेद्विद्याधिकारिणोऽभावादुपनिषदां व्यर्थतेत्याशङ्क्याऽऽह—प्रायेणेति । उत्सर्गतः कामाद्यासक्त एव जन इत्यर्थः । हिशब्दः प्रसिद्धार्थकः ॥ ६ ॥

---

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः । शृण्वन्तोऽपि
बहवो यं न विद्युः । आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य
लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः[1] ॥ ७ ॥

यस्तु श्रेयोर्थी सहस्रेषु कश्चिदेवाऽऽत्मविद्भवति त्वद्विधो यस्माच्छ्रवणायापि श्रवणार्थं श्रोतुमपि यो न लभ्य आत्मा बहुभिरनेकैः शृण्वन्तोऽपि बहवोऽनेकेऽन्ये यमात्मानं न विद्युर्न विदन्त्यभागिनोऽसंस्कृतात्मानो न विजानीयुः । किंचास्य वक्ताऽप्याश्चर्योऽद्भुतवदेवानेकेषु कश्चिदेव भवति । तथा श्रुत्वाऽप्यस्याऽऽत्मनः कुशलो निपुण एवानेकेषु लब्धा कश्चिदेव भवति । यस्मादाश्चर्यो ज्ञाता कश्चिदेव कुशलानुशिष्टः कुशलेन निपुणेनाऽऽचार्येणानुशिष्टः सन् ॥ ७ ॥

---

आ० टी०—॥ ७ ॥

---

गो० टी०—यस्त्वनेकजन्मार्जितसुकृतप्रसादासादितशुद्धबुद्धिः कामादिविमुखो निरतिशयपुरुषार्थं ब्रह्म प्रत्यक्त्वेन जानाति सहस्रेषु नचिकेतःसदृशः कश्चिदेव भवतीत्याह—यस्त्विति । तत्र हेतुपरमुत्तरमाह—यस्मादिति । ननु मेघसंदेशाद्यसन्नप्यर्थः श्रूयत इत्याशङ्क्याऽऽह—श्रवणार्थमिति । तस्य व्याख्या—श्रोतुमपीति । अनेकैः श्रोतुमपि यो न लभ्य इत्यन्वयः । अयमाशयः—श्रवणस्य दृष्टफलत्वान्निर्विषयस्य च साक्षात्कारजनकत्वाज्जनितस्यापि प्रतिभाप्रत्ययवद्भ्रान्तित्वादात्माऽविषय एवैष्टव्य इति । केषांचिच्छ्रोतुं दुर्लभोऽन्येषां ज्ञातुं दुर्लभ इत्याह—शृण्वन्तोऽपीति । अन्य इति पूर्वोक्ताधिकारिभ्य इत्यर्थः । न विदन्तीत्येतद्धेतुपूर्वकं व्याचष्टे—अभागिन इति । तद्व्याचष्टे—असंस्कृतेति । नित्यनैमित्तिकैरसंस्कृत आत्माऽन्तःकरणं येषां ते तथोक्ताः । यस्माच्छ्रोतारश्च ज्ञातारश्च दुर्लभास्तस्मात्कश्चिदेवाधिकारी भवतीति

---

१ ग. °देव आत्म° । २ क. ज्ञ. ट. °पि न ।

पूर्वेणान्वयः । एवं श्रोतारं महीकृत्य वक्तारं मही करोति—किंचेति । न केवलं श्रोता दुर्लभो वक्ताऽपीत्यर्थः । अस्याऽऽत्मनः । आश्चर्यशब्दोऽद्भुतवाचीति तत्सदृशो लक्षणेत्याह—अद्भुतवदेवेति । यथाऽनेकेषु पदार्थेषु कश्चिदेव पदार्थ आश्चर्यकर एवं वक्ताऽपि कश्चिदेव भवतीत्यर्थः । वक्तृत्वदौर्लभ्यानन्तरं श्रोतृष्वनेकेषु लब्धाऽस्यात्मनः कुशल एव कश्चिदेव भवतीत्याह—तथेति । यथा वक्ता दुर्लभस्तथेत्यर्थः । कुशल एव युक्तत्वनुभवसमर्थ एव । तत्र हेतुमाह—यस्मादिति । निपुणेन साक्षात्कृतब्रह्मतत्त्वेनाऽऽचार्येणानुशिष्टो वेदान्तैः शिक्षितः सञ्ज्ञाता साक्षात्कारवान्कश्चिदेव भवति यस्मात्तस्मात्कश्चिदेवाऽऽत्मनो लब्धेत्यन्वयः ॥ ७ ॥

कस्मात्—

न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो*बहुधा चिन्त्यमानः । अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्त्यणीयान्ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥ ८ ॥

नहि नरेण मनुष्येणावरेण[1] प्रोक्तोऽवरेण[2] हीनेन प्राकृतबुद्धिनेत्येतदुक्त[3] एष आत्मा यं त्वं मां पृच्छसि । न हि सुष्ठु सम्यग्विज्ञेयो विज्ञातुं शक्यो यस्माद्बहुधाऽस्ति नास्ति कर्ताऽकर्ता शुद्धोऽशुद्ध इत्याद्यनेकधा चिन्त्यमानो वादिभिः । कथं पुनः सुविज्ञेय इत्युच्यते—अनन्यप्रोक्तेऽनन्येनापृथग्दर्शिनाऽऽचार्येण प्रतिपाद्यब्रह्मात्मभूतेन प्रोक्त उक्त आत्मनि गतिरनेकधाऽस्तिनास्तीत्यादिलक्षणा[4] चिन्ता गतिरत्रास्मिन्नात्मनि नास्ति न विद्यते सर्वविकल्पगतिप्रत्यस्तमितत्वादात्मनः[5] । अथवा स्वात्मभूतेऽनन्यस्मिन्नात्मनि[6] प्रोक्तेऽनन्यप्रोक्ते[7] गतिरत्रान्याऽवगतिर्नास्ति ज्ञेयस्यान्यस्याभावात् । ज्ञानस्य ह्येषा परा[8] निष्ठा यदात्मैकत्वविज्ञानम् । अतोऽवगन्तव्याभावान्न गतिरत्रावशिष्यते । संसारगतिर्वाऽत्र नास्त्यनन्य आत्मनि प्रोक्ते[9] नान्तरीयकत्वात्तद्विज्ञानफलस्य मोक्षस्य । अथवा प्रोच्यमानब्रह्मात्मभूतेनाऽऽचार्येण प्रोक्त आत्मन्यगतिरनवबोधोऽपरिज्ञानमत्र नास्ति । भवत्येवावगतिस्तद्विषया श्रोतुस्तदनन्योऽहमित्याचार्यस्येवेत्यर्थः । एवं सुविज्ञेय आत्माऽऽगमवताऽऽचार्ये-

* 'बहुधा चिन्त्यमानः' इत्यस्य स्थाने अणुरेष धर्म इति वर्तते ट. पुस्तके ।

१ क. 'मनुष्य' । २ ख. ङ. च. ज. ञ. ट. 'वरप्रो' । ३ घ. 'प्रोक्तो नरे' । ४ झ ञ. ट. 'धाऽस्ती' । ५ च. ञ. 'क्षणचि' । ६ ङ. 'त्मप्र' । ७ घ. 'नन्येऽस्मि' । ८ घ. प्रोक्ते ग' । ९ क. ख. ज. 'प्रोक्तेऽत्र गतिरन्यस्याव' । १० झ. ञ. ट. 'रा काष्ठा । ११ घ. 'न्यतयग' । १२ क. ख. घ. ङ. च. ज. ठ. 'दनन्योऽह' । ट. दहमस्म्यह' ।

णानन्त्यतया मोक्तः। इतरथा [ ह्य ]णीयानणुप्रमाणादपि संपद्यत आत्मा। अतर्क्यमतर्क्यः स्वबुद्ध्याऽभ्यूहेन केवलेन तर्केण। तर्क्यमाणेऽणुपरिमाणे केनचित्स्थापित आत्मनि ततो ह्यणुतरमन्योऽभ्यूहति ततोऽप्यन्योऽणुतममिति न हि कुतर्कस्य निष्ठा क्वचिद्विद्यते॥ ८॥

आ० टी०—अणुत्वं परोक्षत्वम्॥ ८॥

गो० टी०—ननु वाक्यार्थव्युत्पत्तिमताऽप्याचार्येणानुशिष्टोऽधिकारी स्वाधिकारसामर्थ्याज्ज्ञास्यति लब्धा च भविष्यतीत्याशङ्क्ते—कस्मादिति। श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठमितिश्रुत्यन्तरे व्युत्पत्तिव्यतिरेकेण ब्रह्मनिष्ठताया आचार्यविशेषणत्वेन श्रुतत्वात्ताहगाचार्योक्त आत्मा ज्ञातुं लब्धुं च शक्यत इत्याशङ्क्याऽऽह—न नरेणेत्यादिना। मनुष्येण मनुष्यत्वाभिमानवताऽत एवावरेण। अवरपदार्थमाह—हीनेनेति। प्राकृतबुद्धिना प्रकृतित आगतेषु पश्वादिष्वभिमानरूपा बुद्धिर्यस्य स प्राकृतबुद्धिस्तेनेत्यर्थः। यं पृच्छसि येयमित्यादिनेति शेषः। तत्र हेतुमाह—यस्मादिति। शून्यवादिव्यतिरिक्तवादिभिरस्तीति चिन्त्यमानस्तैर्नास्तीति चिन्त्यमानोऽस्तीति पक्षे सांख्यव्यतिरिक्तैः कर्ताऽशुद्ध इत्यकर्ता शुद्ध इति वेदान्तिभिश्च स एव ब्रह्माभिन्न इति चिन्त्यमानो यस्मात्तस्माद्विप्रतिपत्तिमत्ता( ता )ह्युपदिष्टोऽर्थो न लब्धुं शक्य इति भावः। केनाऽऽचार्येणोपदिष्ट आत्मा ज्ञातव्य इति पृच्छति—कथमिति। प्रतिपाद्यब्रह्मात्मभूतेन जीवन्मुक्तेन शिष्यबुद्धिपरिपाकप्रेरणावता ह्युपदिष्ट आत्मा लब्धुं शक्य इत्याह—उच्यत इति। नान्योऽनन्यस्तेन। ब्रह्मणः सकाशादिति शेषः। विषयेण विषयी लक्ष्यत इत्याह—अपृथग्दर्शिनेति। अभेददर्शिनेत्यर्थः। तदेव विवृणोति—प्रतिपाद्येति। वेदान्तैः प्रतिपाद्यो ज्ञेयो योऽभिन्नात्मा तत्स्वरूपेणेत्यर्थः। आत्मन्युक्ते सतीत्यन्वयः। गतिशब्दस्य पूर्वोक्तविकल्पविषयचिन्तापरत्वमादाय व्याचष्टे—गतिरिति। सर्वे च ते विकल्पाश्च सर्वविकल्पास्तद्विषया गतय( इति )श्चिन्ता प्रत्यस्तमिता लीना यस्मिंस्तस्य भावस्तत्त्वं तस्मात्। आचार्यपदाध्याहारेणार्थान्तरमाह—अथवेति। स्वात्मभूते ब्रह्मात्मभूतेऽनन्य इत्येवंरूपेणाऽऽत्मनि प्रोक्ते प्रकर्षेणोपदिष्टे सतीत्यन्वयः। अत्राऽऽत्मनि ब्रह्माहमस्मीत्यवगतेरन्येति शेषः। ज्ञेयस्यान्यस्याभावादिति। ब्रह्मात्मैक्याद्भिन्नस्याभावादित्यर्थः। आत्मैकत्वेन विज्ञप्तिरभिव्यक्ति-

१ क. ख. ज. प्रोक्त इत्यर्थः। इ°। २ ग. ङ. झ. ञ. ठ. °णुतरोऽणुप्र°। ३ क. °र्क्यमणुप्रमाणो न त°। ख. ञ. °र्क्यमणुप्रमाणादत°। ४ क. ख. ज. °बुद्ध्यभ्यू°। ग. च. °बुद्ध्यूह°। ५ क. घ. च. °न तर्क्य°। ६ क. ग. °माणेऽणु°। ७ ङ. ञ. ट. °णुप्रमा°। ८ क. ख. ग. ङ. च. ज. झ. ट. ठ. ततोऽणु°। ९ ग. च. °तोऽप्यणुतरमि°। १० क. °तरमि°। ११ क. ख. घ. ङ. ज. ठ. हि त°। १२ ट. ठ. आत्मभूते।

रात्मैकत्वविज्ञानम् । फलितमाह—अत इति । यतो ब्रह्मात्मैकत्वमेव ज्ञेयं तज्ज्ञानं गतिरत इत्यर्थः । * गन्तव्याभावाद्गन्तव्यान्तराभावाद्यतो न प्राप्तव्यान्तरमतो गतिर्ज्ञानान्तरं नावशिष्यत इत्यर्थः । गतिरत्र नास्तीत्यंशस्यार्थान्तरमाह—संसारगतिर्वेति । अनन्य आत्मनि गुरुणा प्रोक्त आत्मनि संसारगतिः संसारप्रतिभासः सत्यत्वेन नास्ति कर्तृत्वादेः संसारस्याभास एव प्रत्यय इति भावः । ननु विज्ञानस्य न संसारनिवृत्तिर्मुख्यं फलं तत्कथं संसारावगतिनिषेध इति । नेत्याह—नान्तरीयकत्वादिति । विज्ञानफलस्य मोक्षस्याऽऽनन्दावाप्तेः संसारनिवृत्तिर्ना( ना )न्तरीयकत्वादित्यर्थः । अगतिरिति परिच्छेदेनार्थान्तरमाह—अथवेति । प्रोच्यमानं यद्ब्रह्म तदात्मभूतेनाऽऽचार्येण शिष्यबुद्ध्या बिम्बेश्वरभूतेनोपदिष्ट आत्मनि शिष्यस्याधिकारिणोऽनवबोध आत्मविषये नास्त्येव, बोधो भवत्येवेत्यर्थः । इदमुपलक्षणं प्रतिबद्धबोधस्यापि । बोधे प्रतिबन्धो न भवतीति भावः । श्रोतुर्बोधमभिनीय दर्शयति—तदस्म्यहमिति । तत्प्रत्यगभिन्नमहमस्मीत्यर्थः । तदनन्योऽहमिति पाठेऽप्ययमेवार्थः । तत्रोपमानमाह—आचार्यस्येवेति । वृत्तानुवादपूर्वकमुत्तरवाक्यमवतारयति—एवमिति । अनन्यतया स्थितेनाऽऽचार्येण प्रोक्त आत्मा सुविज्ञेय इति प्रथमव्याख्यानुवादः । न केवलमाचार्येणोपदिष्ट आत्माऽपि त्वागमेनापीत्याह—आगमवतेति । अवगमवतेति पाठः सुगमः । द्वितीयव्याख्यान आचार्येणानन्यतयाऽनन्य इत्येवंरूपेण प्रोक्त आत्मा सुविज्ञेय इत्यनुवादः । तृतीये समः । चतुर्थ आचार्येणैव[1] प्रोक्त आत्मा सुविज्ञेय इत्येवकाराध्याहारेणानुवादो व्याख्येयः । पृथग्दर्शिना तूपदिष्ट आत्मा परोक्ष एवेत्याह—इतरथेति । पृथग्दर्शिनोपदिष्ट आत्माऽणुः परोक्षः परोक्षादपि परोक्षोऽणीयानणुप्रमाणादल्पपरिमाणादप्यणीयान्संपद्यत इत्यर्थः । हिरप्यर्थः । अल्पपरिमाणादप्यणुतरः संपद्यत आत्मेत्यत्र हेतुमाह—अतर्क्यमिति । अणीयानित्युपक्रमे पुंलिङ्गनिर्देशादतर्क्यमिति नपुंसकः पुंलिङ्गत्वेन विपरिणेय इत्याह—अतर्क्य इति । तर्केण ज्ञेयस्तर्क्यो न तर्क्योऽतर्क्यः । ननु तर्कस्यानुमानत्वेन प्रमाणत्वाच्छ्रुतिवद्वस्त्ववबोधकत्वात्कथं तर्कागम्य आत्मेत्यत आह—स्वबुद्ध्याऽभ्यूहेनेति । स्वाधीना बुद्धिः स्वबुद्धिर्न गुर्वाद्युपदेशेन संस्कृता तयाऽभ्यूह आरोपस्तेन तर्केणेत्यर्थः । तथा सत्यनुमानस्य मन्तव्य इति श्रुत्या वेदान्तसहायत्वमुक्तं बाधितं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—केवलेति । श्रुत्यसहायेनेत्यर्थः । तथा च श्रुत्यनुकूलतर्कस्य समूलत्वात्प्रामाण्येऽपि केवलस्य नार्थनिश्चायकतेति भावः । केवलेन तर्केणातर्क्य इत्यन्वयः । विपक्षे दण्डमाह—तर्क्यमाण इति । तर्क्यमाण आत्मनि केनचित्तार्किकेणाणुपरिमाणे स्थापित इत्यन्वयः । एकेना-

* एतदनुरोधेन भाष्येऽपि गन्तव्याभावादिति पाठः स्यादित्यनुमीयते ।

[1] क. ख. ट. °र्येण प्रो° ।

णुत्वेन स्थापित आत्मन्यन्योऽपि तार्किकंमन्योऽन्यथाऽभ्यूहतीत्याह—तत इति । ततः पूर्वस्मात्परिमाणादणुतां ततोऽपि परोक्षतामन्यस्तार्किक ऊहति । हि प्रसिद्धमेतत् । ततोऽपीति । पूर्ववत् । ननु कश्चित्तार्किकाग्रणीः परिमाणस्य निष्ठां वेत्स्यतीति नेत्याह—न हीति । कुत्सिततर्कः कुतर्क उत्प्रेक्षामात्रनिबन्धनस्तस्य निष्ठा कस्मिंश्चिद्विषये परिसमाप्तिः काचिदपि न विद्यत इत्यर्थः ॥ ८ ॥

---

नैषा तर्केण मतिरापनेया प्रोक्ता[1]ऽन्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ । यां त्वमापः सत्यधृतिर्बतासि तादृङ्नो भूया-न्नचिकेतः प्रष्टा ॥ ९ ॥

अतोऽनन्यप्रोक्त आत्मन्युत्पन्ना येयमागमप्रतिपाद्याऽऽत्ममतिर्नैषा तर्केण[2] स्वबुद्ध्यभ्यूहमात्रेणाऽऽपनेया न प्रापणीयेत्यर्थः । नापनेतव्या[3] वा[4] न हातव्या । तार्किको ह्यनागमज्ञः स्वबुद्धिपरिकल्पितं यत्किंचिदेव[5] कथयति । अत एव च येयमागमप्र[6]भूता मतिर[7]न्येनैवाऽऽगमाभिज्ञेनाऽऽ-चार्येणैव तार्किका[8]त्प्रोक्ता सती सुज्ञानाय भवति । हे प्रेष्ठ प्रियतम । का पुनः सा तर्कागम्या मति[9]रित्युच्यते । यां त्वं मतिं मद्वरप्रदानेनाऽऽपः प्राप्तवानसि । सत्याऽवितथविषया धृतिर्यस्य तव स त्वं सत्यधृतिर्बता-सीत्यनुकम्पयन्नाह मृत्युर्नचिकेतसं वक्ष्यमाणविज्ञानस्तुतये । त्वादृक्त्व-त्तुल्यो नोऽस्मभ्यं भूयाद्भ[10]वताद्भवत्वन्यः पुत्रः शिष्यो वा प्रष्टा । कीदृ-ग्यादृक्त्वं हे नाचिकेतः प्रष्टा ॥ ९ ॥

---

आ० टी०—॥ ९ ॥

---

गा० टी०—फलितमाह— अत इति । यतस्तर्कानिर्धानाऽत इत्यर्थः । अनन्येना-पृथग्दर्शिना प्रोक्ता आत्मनि विषय आगमप्रतिपाद्या तरति शोकमात्मविदित्यागमेन फलत्वेन प्रतिपाद्या येयं मतिरेषा तर्केण न प्रापणीया न परिणेयेत्यर्थः । पुनर्नकारग्रह-णमन्वयार्थम् । अर्थान्तरमाह—नापनेतव्येति । न हतव्या न बाधनीया । वाशब्दः पक्षान्तरद्योती । प्रथमपक्षे ह्यात्मविषया मतिर्न तर्केण जननीयेत्यर्थः । द्वितीये कुतर्का-दिनाऽऽगमजानस्मतिर्न बाधनीयेत्यर्थः । नन्वागमानुकूलतर्कस्यापि निषेधः स्यादित्या-

---

१ ट. °क्ता ह्यन्येन सु° । २ ख. ग. °ण मतिः स्व° । ३ घ. झ. ञ. ठ. °बुध्याऽभ्यू° । ४ क. घ. ट. वा न हन्तव्या । ख. ङ. झ. ञ. ठ. वा नोपहन्तव्या° । ५ ख. ग. कल्पय° । ६ कः ख. ङ. °प्रसूता । ७ घ. °रनन्ये° । ८ घ. °र्किकप्रोक्ता । ९ ग. ङ. च. °तिरुच्य° । १० ग. ङ ञ. ठ. °द्भवत्व° ।

शङ्कच कुतर्कस्यैव निषेध इत्याह- तार्किक इति । यत्किंचिदेव कथयतीत्यन्वयः । यत्किंचित्प्रत्यगभिन्नस्य तटस्थत्वादिकम् । तदपि प्रमाणमूलमिति चेन्नेत्याह-स्वबुद्धिपरिकल्पितमिति । तत्र हेतुः-अनागमज्ञ इति । हि यस्मादागमार्थानभिज्ञस्तार्किकस्तस्मात्स्वबुद्धिपरिकल्पितमेव यत्किंचित्कथयतीत्यन्वयः । अपृथग्दर्शिनाऽऽचार्येणोपदिष्ट आत्मा ज्ञातुं शक्य इत्युक्तमर्थं श्रुतिर्निगमयतीत्याह-अत एवेति । यतस्तर्कजन्या न भवतीत्यत इत्यर्थः । कस्मादन्येनेत्यपेक्षायां पूरयति-तार्किकादिति । प्रोक्ता प्रकर्षेणोपदिष्टेत्यर्थः । सुज्ञानाय साक्षात्काराय । प्रियतमेति संबोधनं नचिकेतसः । आकाङ्क्षापूर्वकमुत्तरवाक्यमवतारयति—का पुनरिति । मतेरुत्तरक्षणे प्राप्यमाणत्वात्प्राप्तवानसीति निर्देशः । वरप्रदानस्याग्निविद्यादिप्राप्तिपर्यन्तत्वाद्वाऽसीति निर्देशः । अवितथः परमार्थ आत्मा विषयो यस्याः सा तथा । अनुकम्पयन्दयां कुर्वन्नित्यर्थः । नचिकेतसमनुकम्पयन्वक्ष्यमाण[वि]ज्ञानस्तुतय आहेत्यन्वयः । हे नचिकेतो यादृक्त्वं प्रष्टा त्वत्तुल्योऽस्मभ्यं तादृक्पुत्रः शिष्यो वा भवत्वित्युत्तरवाक्यान्वयः ॥ ९ ॥

पुनरपि तुष्ट आह--

जानाम्यहꣳ शेवधिरित्यनित्यं न ह्यध्रुवैः प्राप्यते
हि ध्रुवं तत् । ततो मया ना(न)चिकेतश्चितोऽग्निर-
नित्यैर्द्रव्यैः प्राप्तवानस्मि नित्यम् ॥ १० ॥

जानाम्यहं शेवधिर्निधिः कर्मफललक्षणो निधिरिव प्रार्थ्यत इति । असावनित्यमनित्य इति जानामि । न हि यस्मादनित्यैरध्रुवैर्[३]नित्यं ध्रुवं तत्प्राप्यते । परमात्माख्यः शेवधिः । यस्त्वनित्यसुखात्मकः शेवधिः स एवानित्यैर्द्रव्यैः प्राप्यते । हि यतस्ततस्तस्मान्मया जानताऽपि नित्यमनित्यसाधनैर्न प्राप्यत इति ना[६](न)चिकेतश्चितोऽग्निरनित्यैर्द्रव्यैः पश्वादिभिः स्वर्गसुखसाधनभूतोऽग्निर्निर्वर्तित इत्यर्थः । तेनाहमधिकारापन्नो नित्यं याम्यं स्थानं स्वर्गाख्यं नित्यमापेक्षिकं प्राप्तवानस्मि ॥ १० ॥

आ० टी०—मया जानताऽपि बह्वायासं कर्म कृतं त्वं दीयमानमपि तत्फलं न गृह्णासि मत्तोऽधिकप्रज्ञोऽसीति संतोषात्स्तौतीत्याह—पुनरपि तुष्ट आहेति ॥ १० ॥

गो० टी०—मया जानताऽपि बह्वायासं कर्म कृतं तत्फलं दीयमानमपि न गृह्णासि

१ झ. ञ. ट. °फलं ल° । २ क. ख. ग. °त्यमिति । ३ ख. ज. झ. ञ. ठ. °वैर्यन्नित्यं° । ४ ख. ज. °माख्यः । ५ क. ख. ज. यस्तु नि° । ६ झ. अ. °ति । नाचि° । ७ क. °र्थः । ततोऽह° ।

ततो मत्तोऽप्यधिकतरप्रज्ञोऽसीति संतोषात्स्तौतीत्याह—पुनरपि तुष्ट आहेत्यादिना । शेवधिशब्देन निधिशब्दपर्यायेण कथं कर्मफलमुच्यते भूम्यादिनिहितहिरण्याद्यर्थकत्वान्निधिशब्दस्येत्याशङ्क्य कामनाविषयत्वगुणयोगाच्छेवधिशब्दः कर्मफले विद्यत इत्याह—निधिरिवेति । शेवधिशब्दस्य पुंलिङ्गत्वादाह—अनित्यमनित्य इतीति । तच्च प्राप्यत इत्यन्वयः । ध्रुवशब्दार्थमाह—परमात्मेति । तर्हि नित्यसुखप्राप्तिः केनेत्यत आह—यस्त्विति । हे नचिकेतो नित्यमनित्यसाधनैर्न प्राप्यत इति जानताऽपि मयाऽग्निश्चित इत्यन्वयः । पदार्थमुक्त्वा वाक्यार्थमाह—अनित्यैरिति । तेन चितेनाग्निनाऽधिकारापन्नो धर्माधर्मफलयोः प्रदानेन जन्तूनां नियन्तृत्वमापन्नः । याम्यमिति । यमयति नियच्छतीति यमस्तस्येदं याम्यं तेनाधिष्ठितमिति यावत् । ननु कर्मफलस्य तद्यथेहेत्यादिश्रुत्याऽनित्यत्वश्रवणात्कथं नित्यत्वं तत्राऽऽह—आपेक्षिकमिति । किंचित्कालावस्थायीत्यर्थः ॥ १० ॥

---

**कामस्याऽऽप्तिं जगतः प्रतिष्ठां क्रतोरनन्त्यमभयस्य पारम् । [1]स्तोममहदुरुगायं प्रतिष्ठां दृष्ट्वा धृत्या धीरो नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः ॥ ११ ॥**

त्वं तु कामस्याऽऽप्तिं समाप्तिम्, [2]अत्रैवेहैव सर्वे कामाः परिसमाप्ताः, जगतः साध्यात्माधिभूताधिदैवादेः प्रतिष्ठामाश्रयं सर्वात्मकत्वात्, [3]क्रतोः फलं हैरण्यगर्भं पदं[4]मनन्त्यमानन्त्यम् । अभयस्य च पारं परां निष्ठाम् । स्तोमं स्तु[5]त्यं [6]महदणिमाद्यैश्वर्याद्यनेकगु[7]णसंहतं[8] स्तोमं च तन्महच्च निरतिशयत्वा[9]त्[10]स्तोममहत् । उरुगायं वि[11]स्तीर्णां गतिम् । प्रतिष्ठां स्थितिमात्मनोऽनुत्तमामपि दृष्ट्वा धृत्या धैर्येण धीरो धी[12]मान्स[13]न्नचिकेतोऽत्यस्राक्षीः परमेवाऽऽकाङ्क्षन्नतिसृष्टवानसि[14] सर्वमेतत्संसारभोगजातम् । अहो बतानुत्तमगुणोऽसि ॥ ११ ॥

---

आ० टी०—॥ ११ ॥

---

गो० टी०—आहिरण्यगर्भपदाद्विरक्तस्य ब्रह्मविद्याधिकार इत्येतद्दर्शयितुं प्रष्टारं स्तौति—त्वं त्विति । अत्रैवेति पदं व्याचष्टे—इहैवेति । हिरण्यगर्भपद इत्यर्थः ।

---

१ क. छ. झ. ञ. स्तोमं म° । २ क. ख. घ. ङ. च. ज. झ. ठ. अत्र हि स° । ३ ख. ज. झ. ञ. ट. ठ. क्रतोरुपासनायाः फ° । ४ क. °दमा° ५ ट. स्तुत्यमाणि° । ६ ञ. महच्चाणि° । ७ क. ख. च. ज. °णसहितं । ८ घ. संगतं । ९ ङ. ट. °त्वादुरु° । १० ग. घ. झ. ञ. °स्तोमं म° । ११ घ. स्तीर्णग° । १२ ख. °मान्नचि° । १३ ग. घ. ङ. च. °मत्य° । १४ ञ. °सि त्वम् ।

हिरण्यगर्भपदस्याध्यात्माधिभूताधिसहितसर्वजगदाश्रयत्वे हेतुमाह-सर्वात्मकत्वादिति। आनन्त्यपदापेक्षितक्रतुफलं हिरण्यगर्भपदमित्याह— क्रतोः फलमित्यादिना। क्रतु-र्हिरण्यगर्भोपासना आनन्त्यमपेक्षिकम्। एवमुत्तरपदेष्वपि द्रष्टव्यम्। भाष्ये प्रथम-चकार आनन्त्याभयसमुच्चयार्थः। द्वितीयः स्तोममहत्त्वगुणसमुच्चयार्थः। संहतमिति। विशिष्टमित्यर्थः। पदार्थमभिधाय तदनुवादेन हेतुं दर्शयति—स्तोमं चेत्यादिना। अनेककालावस्थायि हिरण्यगर्भपदं गम्यत इति व्युत्पत्त्या विस्तीर्णगतिरित्युच्यते। हे नचिकेत इति संबोधनमत्यस्राक्षीरित्यत्र द्रष्टव्यम्। किं त्यक्तवानसीत्यपेक्षायां प्रोक्त-हिरण्यगर्भपर्यन्तसंसारभोगजातमित्याह—सर्वमेतदिति। उपक्रान्तश्रोतृप्रशंसामुप-संहरति—अहो बतेति॥ ११॥

---

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ
जहाति॥ १२॥

यं त्वं ज्ञातुमिच्छस्यात्मानं तं दुर्दर्शं दुःखेन दर्शनमस्येति दुर्दर्शोऽ-तिसूक्ष्मत्वात्। गूढं गहनमनुप्रविष्टं प्राकृतविषयविकारविज्ञानैः प्रच्छन्न-मित्येतत्। गुहाहितं गुहायां बुद्धौ स्थितं तत्रोपलभ्यमानत्वात्। गह्वरेष्ठं गह्वरे विषमेऽनेकानर्थसंकटे तिष्ठतीति गह्वरेष्ठम्। यत एवं गूढ-मनुप्रविष्टो गुहाहितश्चातो गह्वरेष्ठः। अतो दुर्दर्शः। तं पुराणं पुरातनम-ध्यात्मयोगाधिगमेन विषयेभ्यः प्रतिसंहृत्य चेतस आत्मनि समाधानम-ध्यात्मयोगस्तस्याधिगमस्तेन मत्वा देवमात्मानं धीरो हर्षशोकावात्मन उत्कर्षापकर्षयोरभावाज्जहाति॥ १२॥

---

आ० टी०—यश्च त्वया देहव्यतिरिक्त आत्मा पृष्टस्तस्यैव परमार्थस्वरूपज्ञानं संसा-रनिवर्तकं परमानन्दप्राप्तिसाधनं धर्म्यं च नातःपरं श्रेयःसाधनमस्तीति पृष्टस्य वस्तुनः प्रशंसया च प्रष्टारं प्रशंसति-यं त्वं ज्ञातुमिच्छसीत्यादिना॥ १२॥

---

गो० टी०—यश्च त्वया देहव्यतिरिक्त आत्मा पृष्टस्तस्यैव परमार्थस्वरूपविज्ञानं सनिदानसंसारनिवर्तकं परमानन्दप्राप्तिसाधनमतः परं श्रेयःसाधनं धर्मश्च नास्तीति पृष्टस्य वस्तुनः प्रशंसया च प्रष्टारं प्रशंसति(ति)—यं त्वं ज्ञातुमिच्छसीत्यादिना। यमा-त्मानं ज्ञातुमिच्छसि तमित्यन्वयः। यं च त्वमिति क्वचित्पाठः। दुःखेनेति अस्य

---

१ क. ज. 'न च द'। २ क. ख. ङ. झ. ट. 'दर्शमति'। ३ ग. ङ. च. 'यविज्ञा'। ४ ख. झ. ट. 'कारविज्ञा'। ५ ख. झ. ञ. स्थितमाहितं निहितं त'। ६ क. ग. घ. झ. ञ. ट. ठ. 'भ्यमाना'। ७ ख. मे 'स्थानेऽने'। ८ ख. ङ. झ. ञ. ट. 'रो धीमान्हर्ष'।

न्ताभ्यासेनेत्यर्थः । ननूक्तं कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वत इति तत्र हेतुमाह — अतिसूक्ष्मत्वा-दिति । तमिति । परमसूक्ष्मपाकाशादेरपि कारणत्वादतिसूक्ष्ममतो दुर्दर्शमित्यर्थः । गूढ-मनुप्रविष्टमित्यस्य तात्पर्यार्थमाह—प्राकृतेति । विषयाः शब्दादयः । नन्वनन्तायामवि-स्तारस्य न बुद्धौ स्थितत्वमिति(त्या)शङ्क्याऽऽह—तत्रेति । बुद्धावित्यर्थः । अन-र्था रागद्वेषादयस्ते. संकटेऽत्यन्तायामजनके कार्यकारणसंघात इत्यर्थः । गूढमनुप्रवि-ष्टत्वं गुहाहितत्वं च गह्वरेष्ठत्वे हेतुस्तच्च दुर्दर्शत्वे हेतुरित्याह—यत एवमित्यादिना । यतो गह्वरेष्ठोऽत इत्यर्थः । पुरातनं सनातनमित्यर्थ । अधिगमेनेति । प्राप्त्येत्यर्थः । धीरोऽध्यात्माधिगमेन देवमात्मानं मत्वा हर्षशोकौ जहातीन्वयः । हर्षशोकोपलक्षित-संसारनिवृत्तौ हेतुमाह — आत्मन इति । स्वोत्कर्षप्रयुक्तं सुखादि परोत्कर्षप्रयुक्तं दुःखादि स्वापकर्षप्रयुक्तं दुःखादि परापकर्षप्रयुक्तं सुखादि तयोरभावस्तस्माद-पगच्छन् इत्य(च्छतीत्य)र्थः । अत्र धीरो बुद्धिमानिति श्रवणमननसत्त्वमुच्यते । अध्यात्मयोगशब्देन निदिध्यासनमुच्यते । मत्वेति साक्षात्कार उच्यते ॥ १२ ॥

---

**एतच्छ्रुत्वा संपरिगृह्य मर्त्यः प्रवृह्य धर्म्यमणुमेत-**
**माप्य । स मोदते मोदनीयꣳ हि लब्ध्वा विवृतꣳ**
**सद्म नचिकेतसं मन्ये ॥ १३ ॥**

किंचैतदात्मतत्त्वं यदहं वक्ष्यामि तच्छ्रुत्वाऽऽचार्यप्रसादात्सम्यगात्म-भावेन परिगृह्योपादाय मर्त्यो मरणधर्मा धर्मादनपेतं धर्म्यं प्रवृह्यो-द्यम्य पृथक्कृत्य शरीरादेरणुं सूक्ष्ममेतमात्मानमाप्य प्राप्य स मर्त्यो विद्वान्मोदते मोदनीयं हर्षणीयमात्मानं लब्ध्वा । तदेतदेवंविधं ब्रह्मसद्म भवनं नचिकेतसं त्वां प्रत्यपावृतद्वारं विवृतमभिमुखीभूतं मन्ये मोक्षार्हं त्वां मन्य इत्यभिप्रायः ॥ १३ ॥

---

आ० टी०—॥ १३ ॥

---

आ० टी० — आत्मतत्त्वज्ञानस्य सनिदानसंसारनिवर्तकत्वमाद्यर्थाऽऽनन्दावाप्तिसाध-नत्वमाह — किंचेति । वक्ष्यामीति । न जायत इत्यारभ्येति द्रष्टव्यम् । स्वार्थे तच्छ्र-वणं व्यावर्तयति—आचार्यप्रसादादिति । अथवाऽऽचार्यप्रसादात्परिगृह्येति योजना । आत्मभावेन परिगृह्येति मननेन ब्रह्मतत्त्वं श्रुतं प्रत्यगात्मत्वेन निश्चित्येत्यर्थः । प्रायेण मनुष्याधिकारत्वाच्छास्त्रस्येति मर्त्यग्रहणम् । तत्त्वज्ञानस्योत्तमधर्मत्वमाह—धर्मादिति ।

---

१ ज. °क्ष्यामीतं° । २ ग. °मि श्रुत्वा । ३ क. ख. घ. ङ. ज. ठ. °र्यसकाशात्स° । ४ क. ख. ज. °यं हि ह° । ५ च. ण. °र्मं सद्म भ° ।

कस्मात्पृथक्कृत्येत्यपेक्षायामाह-शरीरादेरिति । पृथक्करणं निदिध्यासनम् । प्राप्तिः साक्षात्कारः । मोदनीयमात्मानं लब्ध्वा स विद्वान्मोदत इत्यनेनाऽऽनन्दावाप्तिरुक्ता । एवं वस्तुप्रशंसां कृत्वा प्रष्टारं प्रशंसतीत्याह-तदेवमित्यादिना । तदिति । तस्मादित्यर्थः । यस्माद्विद्वान्साक्षात्कारान्निरतिशयब्रह्म प्राप्नोति तस्मादित्यर्थः । एवंविधमिति । निरतिशयानन्दस्वरूपमित्यर्थः । ब्रह्मैव सद्म ब्रह्मसद्म भवनं गृहं प्राप्य स्थातव्यस्थानमित्यर्थः । अभिमुखीभूतमिति । प्रसन्नमित्यर्थः । यमेवैष वृणुत इति श्रुतेः । पदार्थमुक्त्वा तात्पर्यार्थमाह— मोक्षार्हमिति ॥ १३ ॥

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात् ।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥ १४ ॥

यद्यहं योग्यः प्रसन्नश्चासि भगवन्मां प्रत्यन्यत्र धर्माच्छास्त्रीयाद्धर्मानुष्ठानात्तत्फलात्तत्कारकेभ्यश्च पृथग्भूतमित्यर्थः । तथाऽन्यत्राधर्मात्तथाऽन्यत्रास्मात्कृताकृतात् कृतं कार्यमकृतं कारणमस्मादन्यत्र । किंचान्यत्र भूताच्चातिक्रान्तात्कालाद्भव्याच्च भविष्यतश्च तथा वर्तमानात् । कालत्रयेण यन्न परिच्छिद्यत इत्यर्थः । यदीदृशं वस्तु सर्वव्यवहारगोचरातीतं पश्यसि जानासि तद्वद मह्यम् ॥ १४ ॥

आ० टी—यदि देहव्यतिरिक्तस्याऽऽत्मनः प्रथमं पृष्टस्य परमार्थस्वरूपज्ञानमेव श्रेयःसाधनं तर्हि तदेव ब्रूहीत्याह—यद्यहं योग्य इत्यादिना । अत एव वरदानव्यतिरेकेणापूर्वोऽयं प्रश्न इति नाऽऽशङ्कनीयं पूर्वपृष्टस्यैव याथातथ्यप्रश्नः पृष्टस्य वस्तुनो विशेषणान्तरज्ञानसाधनं वक्तुमित्यर्थः ॥ १४ ॥

गो० टी०—यद्यादौ पृष्टस्य देहव्यतिरिक्तस्याऽऽत्मनः पारमार्थिकस्वरूपज्ञानमेव श्रेयःसाधनं तर्हि तदेव ब्रूहीति नचिकेता आह-यद्यहं योग्य इत्यादिना । अत एव वरदानव्यतिरेकेणापूर्वोऽयं प्रश्न इति नाऽऽशङ्कनीयम् । येयं प्रेत इत्यादिना पृष्टस्यैव देहव्यतिरिक्तस्याऽऽत्मनो याथात्म्यप्रश्नोऽयं पृष्टस्य वस्तुन ओंकारोपासनादिरूपविशेषणान्तरं ज्ञानसाधनं वक्तुमित्यर्थः । मां प्रति यदि प्रसन्नश्चासि मह्यं तद्वदेत्यन्वयः । किं तदित्यपेक्षायामाह—अन्यत्रेत्यादिना । धर्मत्वेन प्रसिद्धचैत्यवन्दनादेरधर्मत्वख्यापनाय शास्त्रीयादिति विशेषणम् । ननु धर्मानुष्ठानादन्यादित्युक्ते तत्फलं तत्कारकं चाऽऽत्मा स्यादित्याशङ्क्य धर्मग्रहणस्योपलक्षणत्वान्न दोष इत्याह-तत्फलादित्यादिना । अधर्मादन्यदित्यत्राप्युपलक्षणं तुल्यम् । अन्यत्रेति । अन्यदित्यर्थः । कार्यकारणपरिच्छेदकात्कालादप्यन्यदित्याह—किंचेति । प्रथमश्चकाराऽते-

१ क. ख. ज. 'च्चं यतद्भवि' । २ क. 'न्तरं ज्ञा' ।

क्रान्तवस्त्वन्यत्वसमुच्चयार्थः । भविष्यतश्च कालादित्यनुवर्तते । द्वितीयश्चकारो भविष्यत्कालपरिच्छिन्नवस्त्वन्यत्वसमुच्चयार्थो वर्तमानकालान्यत्वतत्परिच्छिन्नवस्त्वन्यत्वसमुच्चयोपलक्षणार्थश्च । पदार्थमुक्त्वा वाक्यार्थमाह—कालेति । ईदृशं वस्त्विवति व्याचष्टे—सर्वेति ॥ १४ ॥

इत्येवं पृष्टवते मृत्युरुवाच पृष्टं वस्तु विशेषणान्तरं च विवक्षन्—

**सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाꣳसि सर्वाणि च यद्वदन्ति । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदꣳ संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत् ॥ १५ ॥**

सर्वे यत्पदं[1] पदनीयं[2] गमनीयमविभागेनाऽऽमनन्ति[3] प्रतिपादयन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति यत्प्राप्त्यर्थानीत्यर्थः । यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं गुरुकुलवासलक्षणमन्यद्वा ब्रह्मप्राप्त्यर्थं चरन्ति तत्ते तुभ्यं पदं यज्ज्ञातुमिच्छसि संग्रहेण संक्षेपतो ब्रवीमि, ओमित्येतत् । तदेतत्पदं यद्बुभुत्सितं त्वया यदेतदोमित्योंशब्दवाच्यमोंशब्दप्रतीकं च ॥ १५ ॥

आ० टी०—सर्वे वेदा इति । वेदैकदेशा उपनिषदः । अनेनोपनिषदो ज्ञानसाधनत्वेन साक्षाद्विनियुक्तास्तपांसि तेषां कर्माणि शुद्धिद्वारेणावगतिसाधनानि । मन्दाधिकारिणो विचारासमर्थस्य क्रमेणावगतिसाधनं संक्षिप्याऽऽह—संग्रहेणेति । यस्य शब्दस्योच्चारणे यत्स्फुरति तत्तस्य वाच्यं प्रसिद्धं समाहितचित्तस्योंकारोच्चारणे यद्विषयानुपरक्तं संवेदनं स्फुरति तदोंकारमवलम्ब्य तद्वाच्यं ब्रह्मास्मीति ध्यायेत्तत्राप्यसमर्थ ओंशब्द एव ब्रह्मदृष्टिं कुर्यादित्यर्थः ॥ १९ ॥

गो० टी०—उत्तरमवतारयति—एवमिति । विशेषणान्तरं चेति । ओंकारोपासनमित्यर्थः । सर्वे वेदा इति तदेकदेशा उपनिषद उच्यन्ते तं त्वौपनिषदमित्यादिश्रुत्या साक्षाज्ज्ञानसाधनत्वेन विनियुक्ताः । गमनीयमिति । प्राप्यमित्यर्थः । अविभागेनाविप्रतिषेधेनैककण्ठत्वेनेत्यर्थः । तपांसि कर्माणि । ननु कर्मणां शुद्धिद्वारेण ज्ञानसाधनत्वात्प्रमाणत्वाभावाद्वदन्तीत्येतदनुपपन्नमित्याशङ्क्य वदन्तीति )त्र लक्षणयेत्याह—यत्प्राप्त्यर्थानीति । * यदिति । गुरुकुलवासलक्षणमिति ।

* "यदिति" इत्यधिकं त्रुटितं वैतदग्रे किंचिदिति भाति ।

१ ङ. झ. ञ. ट. °न्तरेण च । २ घ. °त्पदमामनन्ति प° । ३ ख. घ. ङ. ञ. ट. °नीयमि° । ४ ङ. °मभिमानेनाऽऽम° । ५ ग. घ. °विभागेनाऽऽम° ६ क. ख ञ. °न्ति त° । ७ झ. ञ. ठ °र्था भवन्तीत्य° । ८ ग. ष. °र्यं चरन्ति गु° । ९ ञ. ठ. °विभागेना° ।

नैष्ठिकं ब्रह्मचर्यमित्यर्थः । अन्यदिति । इन्द्रविरोचनाख्यायिकाभिहितब्रह्मविद्याङ्गं ब्रह्मचर्यमित्यर्थः । मन्दाधिकारिणोऽवगतिसाधनं संक्षिप्याऽऽह—संग्रहेणेति । यस्य शब्दस्योच्चारणे यत्स्फुरति तत्तस्य वाच्यम् । समाहितचित्तस्योंकारोच्चारणे यत्साक्षिसंवेदनं स्फुरति तदोंकारमवलम्ब्योंकारवाच्यं सत्त्वप्रधानमायावच्छिन्नमोंकारोपाधिकं ब्रह्माहमस्मीति ध्यायेदित्यर्थः । यदि तत्राप्यसमर्थस्तर्हि प्रणवे ब्रह्मदृष्टिं कुर्यादित्याह—ओंशब्दप्रतीकं चेति ॥ १९ ॥

---

**एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम् । एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥ १६ ॥**

अत एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्मापरमेतद्ध्येवाक्षरं परं च । तयोर्हि प्रतीकमेतदक्षरम्, एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वोपास्य ब्रह्मेति यो यदिच्छति परमपरं वा तस्य तद्भवति । परं चेज्ज्ञातव्य[ म ]परं चेत्प्राप्तव्यम् ॥ १६ ॥

---

आ० टी०— ॥ १६ ॥

---

गो० टी०—तत्त्वविचारानधिकृतानामोंकारोपासनां विधाय तत्फलं दर्शयन्नोंकारं स्तौतीत्याह—अत इति । यत ओंकारो ब्रह्मवाचको ब्रह्मप्रतीकोऽत इत्यर्थः । एतदक्षरमपरं ब्रह्मैवेत्यन्वयः । हिर्द्व्यमत इत्यर्थे । एतदक्षरं परं ब्रह्मैव । चकारः परापरात्मकत्वसमुच्चयार्थः । हिद्वयार्थं स्फुटयति—तयोर्हीति । हिशब्दो वाचकत्वसमुच्चयार्थः । अथवा प्रतीकपदेनैव वाचकत्वमुपलक्ष्य हि वेदान्तेषु प्रणवस्य वाचकत्वप्रतीकत्वप्रसिद्धद्यर्थो व्याख्येयः । फलवचनं व्याचष्टे—एतदिति । हिशब्दो भवतीत्यन्वेति । एतदक्षरमुपास्यं परमपरं ब्रह्मेति ज्ञात्वोपास्य योऽधिकारी यत्परमपरं वेच्छति तद्भवति हीत्यर्थः । ननु परापरोपासनयोस्तत्प्राप्तिः फलमित्युक्तं चेत्तस्य ज्ञानं व्यर्थमित्याशङ्क्योपासनाद्वयस्य फलविभागमाह—परं चे[ दि ]ति । परं चेत्तदालम्बनत्वेनोपास्यं स्थितमिति वा तदा ज्ञातव्यं सत्प्राप्तव्यम् । अपरं चेत्तदा प्राप्तव्यमेवेत्यध्याहारेण योज्यम् । अथवा तदालम्बनत्वेन स्थितं परं चेदिच्छति तदा तज्ज्ञातव्यं भवत्यपरं चेत्तदालम्बनत्वेन स्थितमिच्छति तदा तत्प्राप्तव्यमेव भवतीत्यन्वयः ॥ १६ ॥

**एतदालम्बनꣳ श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् । एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥ १७ ॥**

यत एवमत एतदालम्बनमेतद्ब्रह्मप्राप्त्यालम्बनानां श्रेष्ठं प्रशस्यतमम् ।

---

१ क. 'तदेवा' । २ ख. ज. तद्ध्ये' । ३ ज. 'रं च त' । ४ ग. घ. ङ. च. झ. ञ. ढ. ठ. एवैतद्ब्र' ।

एतदालम्बनं परमपरं च परापरब्रह्मविषयत्वात्। एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते। परस्मिन्ब्रह्मण्यपरस्मिंश्च ब्रह्मभूतो ब्रह्मवदुपास्यो भवतीत्यर्थः॥ १७॥

आ० टी०—॥ १७॥

---

गो० टी०—अत इति। परापरप्राप्तिसाधनत्वादित्यर्थः। एवमुक्तप्रकारेण। एतच्छ्रेष्ठमित्यन्वयः। केषां मध्य इत्यपेक्षायामाह—×ब्रह्मेति। प्राप्त्यालम्बनानामिति गायत्र्यादीनां मध्य इत्यर्थः। परशब्दोऽपरस्याप्युपलक्षणार्थ इत्याह—अपरं चेति। तत्र हेतुमाह—परापरेति। ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोकस्तस्मिन्महीयते पूज्यो भवतीत्यर्थमाह—परस्मिन्नित्यादिना॥ १७॥

---

अन्यत्र धर्मादित्यादिना पृष्टस्याऽऽत्मनोऽशेषविशेषरहितस्याऽऽलम्बनत्वेन प्रतीकत्वेन चोंकारो निर्दिष्टः। अपरस्य च ब्रह्मणो मन्दमध्यमप्रतिपत्तॄन्प्रति। अथेदानीं तस्योंकारालम्बनस्याऽऽत्मनः साक्षात्स्वरूपनिर्दिधारयिषयेदमुच्यते—

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्। अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ १८॥

न जायते नोत्पद्यते म्रियते वा न म्रियते चोत्पत्तिमतो वस्तुनोऽनित्यस्यानेकविक्रियास्तासामाद्यन्ते जन्मविनाशलक्षणे विक्रिये इहाऽऽत्मनि प्रतिषिध्येते प्रथमं सर्वविक्रियाप्रतिषेधार्थं न जायते म्रियते वेति। विपश्चिन्मेधावी, अविपरिलुप्तचैतन्यस्वभावात्। किंच नायमात्मा कुतश्चित्कारणान्तराद्बभूव स्वस्माच्चाऽऽत्मनो न बभूव कश्चिदर्थान्तरभूतः। अतोऽयमात्माऽजो नित्यः। शाश्वतोऽपक्षयविवर्जितः। यो ह्यशाश्वतः सोऽपक्षीयते। अयं तु शाश्वतोऽत एव पुराणः पुराऽपि नव एवेति। यो ह्यवयवोपचयद्वारेणाभिनिर्वर्त्यते स इदानीं नवो यथा कुम्भादिस्तद्विपरीतस्त्वात्मा पुराणो वृद्धिविवर्जित इत्यर्थः। यत एवमतो न हन्यते

---

× ब्रह्मप्राप्त्यालम्बनानामितीति प्रतीकग्रहणं युक्तम्।

---

१ क. ख. घ. च. °त्। अत ए। २ घ. °न चोंका°। ३ ग. च. °ते चोत्प°। ४ क. °वौ सर्वक्षोऽप°। ५ ग. घ. च. °भावत्वात्। ६ क. ख. घ. ज. ठ. °व। अ°। ग. °च तस्मा°। ७ ख. म. ट. °यक्षितः। ८ क. °तः सोऽप्यप°। ९ ग. घ. यथाऽङ्कुरादिस्त°।

न हिंस्यते हन्यमाने शस्त्रादिभिः शरीरे । ततस्थोऽप्याकाशवदेव ॥ १८ ॥

आ० टी०— साधनहीनायोपदेशोऽनर्थक इति मत्वोच्चावचप्रगतिसाधनमुक्त्वा वक्तव्यस्वरूपं यत्पृष्टं तदभिधानायोपक्रमत इत्याह— अन्यत्र धर्मादित्यादिनेति । यद्यात्मनोऽन्यत्कृतं स्यात्तत्र जन्मादिप्राप्त्यभावादप्राप्तनिषेधः स्यादतो जन्मादिप्रतिषेधेन ब्रह्मोपदिशन्नात्मस्वरूपमेवोपदिशतीति गम्यते । मरणनिमित्ता च नास्तित्वाशङ्काऽऽत्मनो मरणाभावेऽस्तित्वविषयप्रश्नस्याप्येतदेव वचनं भवतीति द्रष्टव्यम् ॥ १८ ॥

गो० टी०—साधनहीनायोपदेशोऽनर्थक इति मत्वा मन्दमध्यमाधिकारभेदेनोत्कृष्टापकृष्टसाधनमभिधायान्ते यत्स्वरूपं पृष्टं तदभिधानायोपक्रमत इत्याह—अन्यत्र धर्मादित्यादिनेति । परमार्थतः सर्वधर्मविनिर्मुक्तस्योपाधिमन्तर्भाव्य मन्दमध्यमं प्रत्यालम्बनत्वेन प्रतीकत्वेन वों(चों)कारो निर्दिष्ट इत्यर्थः । अपरस्य च ब्रह्मण आलम्बनत्वेन प्रतीकत्वेन वों(चों)कारो निर्दिष्ट इत्यन्वयः । अथ साधननिरूपणानन्तरम् । इदानीमिति प्राप्तावसरत्वमुच्यते । तस्येति । उपासनार्थं सोपाधिकस्येत्यर्थः । ओंकारालम्बनस्योंकारोपाधिकस्याऽऽत्मन इत्यर्थः । साक्षादित्युपाध्यनन्तर्भावेनेत्यर्थः । निर्धारविषया निर्धारयितुमिच्छेदमुत्तरम् । ननु यदन्यत्र धर्मादित्यादिना पृष्टस्योत्तरं तद्यस्तित्वप्रश्नस्य किमुत्तरं न वेदमेवेति चेद्विशात्मनोरेकोत्तरासंभवादिति चेन्नाऽऽत्मभेदासिद्धेर्यदि परमात्मनः सकाशाज्जीवो भिन्नस्तर्हि परमात्मप्रश्नस्य न जायत इत्युत्तरं न स्याज्जन्मादिसंबन्धस्य परमात्मन्यप्रसक्तात्तयोरैक्ये जीवांशप्रसक्तिमादाय निषेध उपपद्येत इति तयोरेकमेवोत्तरमिति भावः । नन्वन्येऽपि विकाराः सन्ति ते किमिति प्रथमं न निषिध्यन्त इति तत्राऽऽह— उत्पत्तिमत इत्यादिना । अनित्यस्य विनाशिन इत्यर्थः । विक्रियाः सन्तीति शेषः । समापद्यन्त इति पाठः कादाचित्कः । प्रथमं जन्मविनाशलक्षणे विक्रिये न जायते म्रियते वेतीहाऽऽत्मनि प्रतिषिध्येते इत्यन्वयः । प्रथमप्रतिषेधे प्रयोजनमाह—सर्वेति । क्रमेणेति द्रष्टव्यम् । मेधावीत्यनेन गुणगुणिसंबन्धे प्राप्ते प्रत्याह— अविपरिलुप्तेति । हेतुं पृच्छति—कुत इति । अथवा देवदत्तो जातो नष्ट इति प्रतीतेः कथं तत्प्रतिषेध इति शङ्कते—कुत इति । न बभूवेत्यन्वयः । न बभूवेत्यत्र हेत्वन्तरानुपादानात्स्वस्मादिति लभ्यत इत्याह—स्वस्माच्चाऽऽत्मन इति । तत्र हेतुमाह—अर्थान्तरेति । देहादिभ्यो भिन्न इत्यर्थः । तथा च पूर्वोक्तप्रतीतेर्देहादिविषयकत्वान्नाऽऽत्मन उत्पत्तिविनाशाविति फलमाह—अजो नित्य इति । शाश्वतस्य व्यतिरेकमुखेणोपपादयति—यो हीति । अत एवेति । शाश्वतत्वादित्यर्थः ।

---

१ ख. ग. ट. 'श इव' । २ क. 'व भवतीत्यर्थः ॥ १८ ॥

पुराणत्वमुपपादयति—यो हीति । अभिनिर्वर्त्यत इति । निष्पाद्यत इत्यर्थः । एत इति । एते धर्मा शरीरस्य नाऽऽत्मनो यस्मादत इत्यर्थः । ननु शरीरसंश्लिष्टत्वेन शरीरे हन्यमान आत्माऽपि हन्यत इत्यत आह—तत्स्थोऽप्याकाशवदिति । यथाऽऽकाशः शस्त्रघातादिभिर्न व्यथामश्नुतेऽसङ्गस्वभावत्वादेवमात्मा शरीरस्थोऽपि शस्त्रादिभिः शरीरे हन्यमाने न हिंस्यत इत्यर्थः ॥ १८ ॥

---

हन्ता चेन्मन्यते हन्तुꣳ हतश्चेन्मन्यते हतम् ।
उभौ तौ न विजानीतो नायꣳ हन्ति न हन्यते ॥ १९ ॥

एवंभूतमप्यात्मानं शरीरमात्रात्मदृष्टिर्हन्ता चेद्यदि मन्यते चिन्तयति हन्तुं हनिष्याम्येनमिति योऽप्यन्यो हतः सोऽपि चेन्मन्यते हतमात्मानं हतोऽहमित्युभावपि तौ न विजानीतः स्वमात्मानं यतो नायं हन्ति, अविक्रियत्वादात्मनस्तथा न हन्यत आकाशवदविक्रियत्वादेव । अतोऽनात्मज्ञविषय एव धर्माधर्मादिलक्षणः संसारो न ब्रह्मज्ञस्य श्रुतिप्रामाण्यान्न्यायाच्च धर्माधर्माद्यनुपपत्तेः ॥ १९ ॥

---

आ० टी०—यद्यविक्रिय एवाऽऽत्मा तर्हि धर्माद्यविकार्यभावात्तदासिद्धौ संसारोपलम्भ एव न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—अनात्मज्ञविषय एवेति । यज्ज्ञानात्प्रवृत्तिः स्यात्तज्ज्ञानात्सा कुतो भवेदिति न्यायाच्चाऽऽत्मज्ञस्य धर्मादि नोपपद्यतेऽत आत्मज्ञः सदा मुक्त एवेत्याह—न्यायाच्चेति । तदुक्तम्—

विवेकी सर्वदा मुक्तः कुर्वतो नास्ति कर्तृता ।
अलेपवादमाश्रित्य श्रीकृष्णजनकौ यथा ॥ इति ॥ १९ ॥

---

गो० टी०—एवंभूतमिति । असङ्गस्वभावमित्यर्थः । शरीरमेव शरीरमात्रं तदभिन्नात्मत्वेन दृष्टिर्यस्य स तथोक्तः । इच्छामभिनीय दर्शयति—हनिष्याम्येनमितीति । मननं विज्ञानं तस्याऽऽकारं दर्शयति—हतोऽहमितीति । स्वमात्मानं न विजानीतः शरीरमात्रदृष्टित्वादिति शेषः । तत्र हेतुमाह—यत इति । न हन्ति हननरूपकर्मणा न प्रयुज्यते । तत्र हेतुमाह—अविक्रियत्वादिति । तथा धर्मविषयत्वमप्यात्मनो नेत्याह—तथा न हन्यत इति । पूर्वोक्तहेतुमाह—अविक्रियत्वादिति । यद्यविक्रिय एवाऽऽत्मा तर्हि धर्माद्यविकार्यभावात्तदासिद्धौ संसारोपलम्भ एव न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—अतोऽनात्मज्ञविषय इति । देहादौ तादात्म्याद्यभिमानविषय इत्यर्थः । इति तु कामयमान इत्यनात्मज्ञस्य संसारमनुवदति । अथाकामयमान इत्यात्म-

---

१ ख. ग. हन्तुमिच्छति ह° । २ घ. °ति वारयितुं योऽ° । ३ क. ग. च. °शवदेवावि° । घ. °श इवावि° । ४ ग. °दतोऽ° । ५ ख. च. °त्र धर्माय° ।

ज्ञस्य तदभावं दर्शयति—श्रुतिप्रमाणत्वादिति । स्मृतिरप्यत्र वर्णाश्रमा इत्याद्या संसारमज्ञस्यानुवदति । स्थितप्रज्ञस्य का भाषेत्याद्या तदभावं दर्शयति । यदज्ञानात्प्रवृत्तिर्या तज्ज्ञानात्सा कुतो भवेदिति न्यायाच्चाऽऽत्मज्ञस्य धर्मादिर्नोपपद्यते स मुक्त एवेत्याह—न्यायाच्चेति । तदुक्तम्—

विवेकी सर्वदा मुक्तः कुर्वतो नास्ति कर्तृता ।
अलेपपदमाश्रित्य श्रीकृष्णजनकौ यथा ॥ इति ॥ १९ ॥

---

कथं पुनरात्मानं जानातीत्युच्यते—

**अणोरणीयान्महतो महीयानात्माऽस्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् । तमक्रतुः पश्यति वीतशोको धातुप्रसादान्महिमानमात्मनः ॥ २० ॥**

अणोः सूक्ष्मादणीयाञ्श्यामाकादेरणुतरः । महतो * महत्परिमाणान्महीयान्महत्तरः पृथिव्यादेः । अणु महद्वा यदस्ति लोके वस्तु तत्तेनैवाऽऽत्मना नित्येनाऽऽत्मवत्संभवति । तदात्मना विनिर्मुक्तमसत्संपद्यते । तस्मादसावेवाऽऽत्माऽणोरणीयान्महतो महीयान्सर्वनामरूपवस्तूपाधिकत्वात् । स चाऽऽत्माऽस्य जन्तोर्ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तस्य प्राणिजातस्य गुहायां हृदये निहित आत्मभूतः स्थित इत्यर्थः । तमात्मानं दर्शनश्रवणमननविज्ञानलिङ्गमक्रतुरकामो दृष्टादृष्टबाह्यविषयोपरतबुद्धिरित्यर्थः । यदा चैवं तदा मन आदीनि करणानि धातवः शरीरस्य धारणात्प्रसीदन्तीत्येषां धातूनां प्रसादादात्मनो महिमानं कर्मनिमित्तवृद्धिक्षयरहितं पश्यत्ययमहमस्मीति साक्षाद्विजानाति । ततो वीतशोको भवति ॥ २० ॥

---

आ० टी०—अकामत्वादिसाधनान्तरविधानार्थमुत्तरवाक्यमवतारयति—कथं पुनरिति । एकस्याणुत्वं महत्त्वं च विरुद्धं कथमनूद्यत इत्याशङ्क्याणुत्वाद्यध्यासाधिष्ठानत्वादणुत्वादिव्यवहारो न तत्त्वत इत्यविरोधमाह—अणु महद्वेति ॥ २० ॥

मो० टी०—कामवर्जितत्वादिसाधनविधानार्थमुत्तरवाक्यमवतारयति—कथं पुनरिति । पृथिव्यादेर्महत्परिमाणादित्यन्वयः । नन्वेकस्याणुत्वं महत्त्वं च कथं विरुद्धमनूद्यत इत्याशङ्क्याणुत्वाद्यध्यासाधिष्ठानत्वादणुत्वादिव्यवहारो न तत्त्वत

---

* व्यधिकरणबहुव्रीहिणा कथंचिन्नेयमेतत् ।

---

१ ख. ट. 'कृष्णार्जुन' । २ क. ट. धातुः प्र' । ३ ङ. ञ. 'वत्सत्संभ' । ४ क. 'मो दृष्ट' । ५ ग. 'दन्त्येषां । ६ ख. 'न्तीति तेषां । ७ क. ख. 'तं पश्यति वीतशोकोऽस्य' । घ. 'तं धातुप्रप्रसादा न्महिमानमात्मनोऽस्य' । ८ क. ख. घ. ङ. ञ. ट. 'तो विगत' ।

इत्याह—अणु महद्वेति । नित्येन तेनैवेत्यन्वयः । आत्मस्वरूपवस्तुप्रत्ययविषय इत्यर्थः । यस्मात्तदात्मनैवाऽऽत्मवत्तद्विनिर्मोके न भवति तस्मादित्यर्थः । सर्वात्मकत्वे सर्वाधिष्ठानत्वं हेतुमाह—सर्वेति । वस्तुशब्देन कर्मोच्यते । तेषामुपाधित्वादाश्रयत्वादित्यर्थः । तस्य सर्वाधिष्ठानत्वेन सर्वरूपत्वं सहेतुकमाह—स चेति । हेतुमाह—गुहायामिति । आत्मभूतः । प्रत्यक्त्वेन स्थित इत्यर्थः । प्रत्यग्ब्रह्मदर्शनसाधनं विदधाति—तमित्यादिना । तं पश्यतीत्यन्वयः । ननु दर्शने कामराहित्यमात्रं न कारणमत आह—दर्शनेति । दर्शनोद्देशेन विहितं यच्छ्रवणं मननं विज्ञानं निदिध्यासनं लिङ्गं साधनं प्रतिबन्धकनिरासद्वारा यस्य स तथा तम् । दृष्टा ऐहिका अदृष्टा आमुष्मिका विषयास्तेभ्य उपरतबुद्धिरित्यर्थः । कामराहित्यमिन्द्रियप्रसादे हेतुरित्याह—यदा चैवमिति । एवमुपरतबुद्धित्वम् । ननु धातुशब्दः कथमिन्द्रियवाची शिरा(शुक्रा)दिवाचित्वादित्याशङ्क्य योगवृत्त्येत्याह—शरीरस्येति । धारणादिन्द्रियैरिति शेषः । कर्मनिमित्तौ वृद्धिक्षयौ शरीरादेर्नोऽऽत्मनोऽस्त्यतद्रहितम् । अक्रतुर्धातुप्रसादात्तमात्मनो महिमानं पश्यतीत्यन्वयः । दर्शनप्रकारमभिनीय दर्शयति—अयमहमस्मीति । दर्शनफलमाह—ततो वीतशोक इति ॥ २० ॥

---

अन्यथा दुर्विज्ञेयोऽयमात्मा कामिभिः प्राकृतपुरुषैः, यस्मात्—

**आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः ।**
**कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति ॥ २१ ॥**

आसीनोऽवस्थितोऽचल एव सन्दूरं व्रजति शयानो याति सर्वत एवमसावात्मा देवो मदामदः समदोऽमदश्च सहर्षोऽहर्षश्च विरुद्धधर्मवानतोऽशक्यत्वाज्ज्ञातुं कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हति । अस्मदादेरेव सूक्ष्मबुद्धेः पण्डितस्य सुविज्ञेयोऽयमात्मा स्थितिगतिनित्यादिविरुद्धानेकधर्मोपाधित्वाद्विरुद्धधर्मवत्त्वाद्विश्वरूप इव चिन्तामणिवदवभासते । अतो दुर्विज्ञेयत्वं दर्शयति—कस्तं मदन्यो ज्ञातुमर्हतीति । करणानामुपशमः शयनं करणजनितस्यैकदेशविज्ञानस्योपशमः शयानस्य भवति । यदा चैवं केवलसामान्यविज्ञानत्वात्सर्वतो यातीव यदा विशेषविज्ञानस्थः स्वेन रूपेण स्थित एव सन्मनआदिगतिषु तदुपाधिकत्वाद्दूरं व्रजतीव । स चेहैव वर्तते ॥ २१ ॥

---

१ क. 'कृतैः पु' । २ ट. 'न्यो वेत्तुम' । ३ ङ. झ. ठ. 'हर्षोऽह' । ४ ग. ङ. च. झ. ञ ट. 'स्य वि' । घ. 'स्य सवि' । ट. 'स्य कस्यचिद्विज्ञे' । ५ क. 'कविधि' । च 'कविधर्म' । ६ झ. ञ. ट. 'र्मत्वाद्वि' । ७ क. 'ते । इति दु' । ८ ङ. झ. ठ. दुर्ज्ञेय' । ९ झ. ञ. 'व तदा । १० झ. 'षज्ञा' । ११ घ. 'ज्ञानः स्वे' ।

आ० टी०—विरुद्धानेकधर्मवत्त्वाद्दुर्विज्ञेयश्चेदात्मा कथं तर्हि पण्डितस्यापि सुज्ञेयः स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—स्थितिगतीति । विश्वरूपो मणिर्यथा नानारूपोऽवभासते परं नानाविधोपाधिसंनिधानान्न स्वतो नानारूपः, चिन्तामणौ वा यद्यच्चिन्त्यते तत्त-च्चिन्तोपाधिकमेवावभासते न तत्त्वतः, तथा स्थितिगतिनित्यानित्यादयो विरुद्धानेक-धर्मा येषां तदुपाधिवशादात्माऽपि विरुद्धधर्मवानिवावभासत इति योजना इति । तस्य सुविज्ञेयो भवति । उपाध्यविविक्तदर्शिनस्तु दुर्विज्ञेय एवेत्यर्थः । स्वतो विरुद्धधर्मकत्वं नास्तीत्येतदेव श्रुतियोजनया दर्शयति—करणानामित्यादिना । एकदेशविज्ञा-नस्येति । मनुष्योऽहं नीलं पश्यामीत्यादिपरिच्छिन्नविज्ञानस्येत्यर्थः ॥ २१ ॥

---

गो० टी०—कामरहितत्वमन्वयव्यतिरेकाभ्यां हेतुरित्याह—अन्यथेति । मोक्ष-कामिणा वारयति—प्राकृतेति । दुर्विज्ञेयत्वे विरुद्धधर्मवत्त्वेन प्रतिभासमानत्वं हेतुमाह—यस्मादिति । अचल एव सन्निति । जाग्रत्स्वप्नयोर्मनआदिव्यापारसाक्षित्वेन कूटस्थः सन्स्थित एवेत्यर्थः । दूरं व्रजतीति । मनआदिव्यापारेषु विषयदेशं गच्छत्सु तत्प्रति-बिम्बरूपेण गच्छतीत्यर्थः । शयान इति । करणेषूपरतेषु विशेषविज्ञानरूपाभावाच्छ-यानो यातीति । सर्वत इति । विज्ञप्तिसामान्यरूपेणावस्थानात्सर्वतो यातीत्युच्यते । एवमसाविति । विरुद्धधर्मवानित्यर्थः । इतश्च विरुद्धधर्मवानित्याह—देव इति । अतो विरुद्धधर्मत्वादित्यर्थः । अतो ज्ञातुमशक्यत्वात्तं मदन्यः को ज्ञातुमर्हतीत्यन्वयः । अ[न]धिकारिणो ज्ञातुमशक्य इति तात्पर्यार्थमाह—अस्मदादेरेवेति । सूक्ष्मबुद्धि-त्वमन्वयव्यतिरेककुशलत्वं पाण्डित्यं श्रवणादिपरत्वम् । कस्यचिदिति । पुरुषधौरे-यस्येत्यर्थः । मनुष्याणां सहस्रेष्विति स्मृतेः । नन्वनेकधर्मवत्त्वाद्दुर्विज्ञेयश्चेदात्मा कथं पण्डितस्यापि सुविज्ञेय इत्याशङ्क्याऽऽह—स्थितिगतीति । यथा विश्वरूपो मणिर्नाना-रूपोऽवभासते तथा परोऽपि[1] नानाविधोपाधिसंनिधानान्नानारूपो भासते न स्वतो नानारू-पता । चिन्तामणिर्वा यद्यच्चिन्त्यते तत्तच्चिन्तोपाधिकमेवावभासते न तत्त्वतस्तथा स्थितिग-तिनित्यानित्यादयो विरुद्धानेकधर्मा येषां तदुपाधिकत्वादात्माऽपि विरुद्धधर्मेवानिवावभा-सत इति योजना । तस्य सुविज्ञेयो भवतीत्यर्थः[2] । वस्तूपाध्यविवेकदर्शी स तु न जानाती-त्याह—अतो[3] दुर्विज्ञेयत्वमिति । अत उपाध्यविवेकदर्शनादित्यर्थः । आत्मनो न स्वतो विरुद्धधर्मत्वं किंतूपाधित इत्येतच्छ्रुतियोजनया दर्शयति—करणानामिति । एकदेश-विज्ञानस्येति । मनुष्योऽहमिदं पश्यामीत्यादिपरिच्छिन्नविज्ञानस्येत्यर्थः । एव-मिति । उपरतविशेषविज्ञानमित्यर्थः । तदेति शेषः । केवलेति । केवलं यत्सामान्यं सर्वोपाध्यनुस्यूतस्वरूपं विज्ञानं तत्स्वरूपत्वादात्मन इत्यर्थः । केवलं विशेषोपाधिशून्य-मित्यर्थः । इवशब्दान्न वस्तुत इति भावः । यदेति । स्वेन रूपेण प्रत्यक्त्मा-[4]

---

१ ख. परोऽपि ना° । २ ख. °वतीत्यर्थः । उ° । ३ ख. वेत्याह । अतो । ४ क. ठ. °ते तादि° ।

अतथा स्थित एव सन्निशेषविज्ञानस्थो यदा भवति तदेति पदद्वयमध्याहृत्य योजनीयम् । तदुपाधि[ क ]त्वान्मनआदिगत्युपाधित्वात् । दूरं व्रजतीव न वस्तुत इत्यर्थः । इव-शब्दार्थं स्फुटयति—स चेति । इहेति देहोक्तिः ॥ २१ ॥

---

तद्विज्ञानाच्च शोकात्ययं इत्यपि दर्शयति—

**अशरीरꣳ शरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितम् । महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥ २२ ॥**

अशरीरं स्वेन रूपेणाऽऽकाशकल्प आत्मा तमशरीरं शरीरेषु देवपितृमनुष्यादिशरीरेष्वनवस्थेष्ववस्थितिरहितेष्वनित्येष्ववस्थितं नित्यमविकृतमित्येतत् । महान्तं महत्त्वस्याऽऽपेक्षिकत्वशङ्कायामाह विभुं व्यापिनमात्मानम् । आत्मग्रहणं स्वतोऽनन्यत्वप्रदर्शनार्थम् । आत्मशब्दः प्रत्यगात्मविषय एव मुख्यस्तमीदृशमात्मानं मत्वाऽयमहमिति धीरो धीमान्न शोचति । न ह्येवंविधस्याऽऽत्मविदः शोकोपपत्तिः ॥ २२ ॥

---

आ० टी०—॥ २२ ॥

---

गो० टी०—उत्तरवाक्यं व्याचिख्यासुर्भूमिकामारचयति—तद्विज्ञानादिति । आभिमानिकसशरीरत्वं व्यावर्तयति—स्वेनेति । ननु शरीराणां स्थितिमत्त्वात्कथमनवस्थितत्वमत आह—अनित्येष्वेति । संश्लेषं वारयति—नित्यमविकृतमिति । स्वत इति न क्रियासाध्यं किंतु स्वाभाविकं प्रत्यग्ब्रह्मैक्यमिति दर्शयितुम् । आत्मशब्दः प्रत्यगात्मवाचको मुख्य इत्यर्थः । मत्वेति । अहमेव परं ब्रह्मेति साक्षात्कृत्येत्यर्थः । अन्वयव्यतिरेकासिद्धं विज्ञानफलमाह—न ह्येवमिति ॥ २२ ॥

---

यद्यपि दुर्विज्ञेयोऽयमात्मा तथाऽप्युपायेन सुविज्ञेय एवेत्याह—

**नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन । यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूꣳ स्वाम् ॥ २३ ॥**

नायमात्मा प्रवचनेनानेकवेदस्वीकरणेन लभ्यो ज्ञेयो नापि मेधया ग्रन्थार्थधारणशक्त्या । बहुना श्रुतेन केवलेन । केन तर्हि लभ्यं इत्युच्यते यमेवं स्वात्मानमेष साधको वृणुते प्रार्थयते तेनैवाऽऽत्मना वरित्रा

---

१ च. 'यमभिद' । २ क. इत्याभिद' । ग. घ. ङ. इति द' । ३ क. ख. ज. 'ष्वनित्येष्ववस्थितिरहितेष्ववस्थितं । ४ च. 'ष्वव' । ५ ङ. ञ. ठ. 'नमत्राऽऽत्म' । ६ क. ग. 'रणाश' । ७ ग. घ. 'भ्यत इ' । ८ क. ख. ग. घ ङ. ज. ट. 'व स्वमात्मा' ।

स्वयमात्मा लभ्यो[1] ज्ञायत[2] एवमित्येतत् । निष्कामस्याऽऽत्मानमेव[3] प्रार्थयत[4] आत्मनैवाऽऽत्मा लभ्यत[5] इत्यर्थः । कथं लभ्यत[6] इत्युच्यते—तस्याऽऽत्मकामस्यैष आत्मा विवृणुते प्रकाशयति पारमार्थिकीं[7] तनूं स्वां स्वकीयां[8] स्वयाथात्म्यमित्यर्थः ॥ २३ ॥

आ० टी०—न बहुना श्रुतेनेति । आत्मप्रतिपादकोपनिषद्विचारातिरिक्तशास्त्रश्रवणेन न लभ्य उपनिषद्विचारेणापि । केवलेनेति । सिद्धोपदेशरहितेन न लभ्यत इत्यर्थः । परमेश्वराचार्यानुग्रहेण तु लभ्यत इत्याह—यमेवेति । स्वात्मानमेव साधकः श्रवणमननादिभिर्वृणुते संभजते श्रवणादिकालेऽपि सोऽहमित्यभेदेनैवानुसंधत्त इत्यर्थः । तेनैवेति । लक्षणया परमात्मानुग्रहेणैव वरित्राऽभेदानुसंधानवता यथानुसंधानमात्मतयैव परमात्मा लभ्यो भवतीत्यर्थः । वैपरीत्येन वा योजना । आत्मा त्वेष प्रकरणी परमात्माऽन्तर्यामिरूपेणाऽऽचार्यरूपेण वा व्यवस्थितो यमेव मुमुक्षुं वृणुते भजतेऽनुगृह्णाति तेनैव परमेश्वरानुगृहीतेनाभेदानुसंधानवता लभ्यत इत्यर्थः ॥ २३ ॥

गो० टी०—ननूपायं विना पण्डितस्य सुज्ञेयश्चेदनात्मज्ञस्यापि तथा स्यादित्याशङ्क्योपायं विना न पण्डितस्यापि ज्ञेय इत्याह—यद्यपीति । दुर्विज्ञेयः पण्डितस्यापीति शेषः । न ज्ञेय इत्यन्वयः । न बहुनेति । आत्मप्रतिपादकोपनिषद्विचारातिरिक्तशास्त्रेण न लभ्य इत्यर्थः । केवलेनेति । गुरूपदेशरहितेनेत्यर्थः । ईश्वराचार्यानुग्रहेणाऽऽत्मा लभ्य इत्याकाङ्क्षापूर्वकमाह—केनेत्यादिना । स्वात्मानमेव प्रत्यक्चैतन्यमेवेत्यर्थः । साधकोऽधिकारी प्रार्थयते भजते श्रवणादिकालेऽपि प्रत्यग्ब्रह्मैवाहमित्यनुसंधत्ते । तेनैवाऽऽत्मना तदनुग्रहेण [वरित्रा] संपरिज्ञात्रा पूर्वोक्तानुसंधानवता यथानुधानं स्वयं प्रत्यगात्मतयाऽऽत्मा परमात्मा लभ्य इत्यर्थः । अथवैष प्रकरणी परमात्माऽन्तर्यामिरूपेणाऽऽचार्यरूपेण वा व्यवस्थितो यमेव साधकं वृणुतेऽनुगृह्णाति तेन परमेश्वरानुग्रहलब्धप्रत्यग्ब्रह्मैक्यानुसंधानवता मुमुक्षुणा लभ्य इत्यर्थः । पदार्थमुक्त्वा वाक्यार्थमाह—एवमिति । तेन लभ्यत( लभ्य ) इतिवाक्यविवरणत्वेनोत्तरमवतारयति—कथमित्यादिना । अधिकारिणः परमं तत्त्वमीश्वरानुग्रहात्प्रकाशत इत्यर्थः ॥ २३ ॥

१ झ. ञ. ठ. °भ्यो ज्ञातव्य ए° । २ क. ख. घ. ङ. ज. झ. ञ. ट. ठ. °त इत्ये° । ३ क. ख. च. ज. °ष्कामस्याऽऽत्मा° । ङ. °ष्कामनं स्वमात्मा° । ४ च. °मेष प्रा° । ५ क. ख. ङ. च. ज. °यते । आ° । झ. ञ. ठ. °यमानस्याऽऽ° । ६ च. झ. ञ. ठ. °भ्य इ° । ७ ग. झ. ञ. ट. °भ्य इ° । ८ क. ख. ज. °कीं स्वां तनूं स्व° । ९ क. °कीयं स्व° । १० क. यां °या° । ११ घ. ङ. °यां स्वं या° ।

किंचान्यत्—

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः ।
नाशान्तमानसो वाऽपि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात् ॥ २४ ॥

न दुश्चरितात्प्रतिषिद्धाच्छ्रुतिस्मृत्यविहितात्पापकर्मणोऽविरतोऽनुपरतः । नापीन्द्रियलौल्यादशान्तोऽनुपरतः । नाप्यसमाहितोऽनेकाग्रमना विक्षिप्तचित्तः । समाहितचित्तोऽपि सन्समाधानफलार्थित्वान्नाप्यशान्तमानसो[4] व्यापृतचित्तः । प्रज्ञानेन ब्रह्मविज्ञानेनैवं प्रकृतमात्मानमाप्नुयात् । यस्तु दुश्चरिताद्विरत इन्द्रियलौल्याच्च समाहितचित्तः समाधानफलादप्युपशान्तमानसश्चाऽऽचार्यवान्प्रज्ञानेन यथोक्तमात्मानं प्राप्नोतीत्यर्थः ॥२४॥

---

आ० टी०—दुश्चरितं कायिकं पापम् ॥ २४ ॥

---

गो० टी०—इतश्चेश्वरानुग्रहलब्धप्रसादवताऽनेकसाधनवता च ज्ञातव्य आत्मेत्याह—किंचान्यदिति । दुश्चरितं कायनिर्वर्त्यं पापम् । अनुपरतः प्रज्ञानेनैनमा (नं नाऽऽ)प्नुयादिति संबन्धः । एवमुत्तरत्र द्रष्टव्यम् । इन्द्रियाणां लौल्यं विषयप्रवणता । तद्विपरीत एव प्राप्नुयादित्याह—यस्त्विति । विषयेभ्य इन्द्रियसमाधाने पुण्यलोकः श्रूयते तस्मादपि समाहितचित्त इत्याह—समाहितेति । ॥ २४ ॥

---

यस्य ब्रह्म च क्षत्रं च उभे भवत ओदनः ।
मृत्युर्यस्योपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः ॥ २५ ॥

इति काठकोपनिषदि प्रथमाध्याये द्वितीया वल्ली समाप्ता ॥२॥

यस्त्वनेवंभूतो यस्याऽऽत्मनो ब्रह्मक्षत्रे[6] सर्वधर्मविधारके अपि सर्वे[7]प्राणभूते उभे ओदनो[8]ऽशनं भवतः स्याताम् । सर्वहरोऽपि मृत्युर्यस्योपसेचनमेवोदनं[10]स्याशनत्वेऽप्यपर्याप्तस्तं प्राकृतबुद्धिर्यथोक्तसाधनरहितः

---

१ क. ख. ज. । °त् दु° । २ क. ख. ज. °णो नावि° । ३ घ. °सोऽव्या° । ४ क. ख. घ. ञ. °चित्तो वाऽऽत्मानं प्राप्नुयात् । प्र° । ५ क. °त. केन प्राप्नुयादित्युच्यते । प्र° । ६ क. ज. °ह्म च क्षत्रं च ब्रह्मक्ष° । ७ क. °र्वप्राण° । ञ. °र्वत्राणभू° । ८ क. ख. ञ. °दनमश° । घ. °दनोऽशं भ° । ९ ग. घ. ज. °नमिवौ° । १० ञ. ट. °नस्योपसेचन° ।

सन्क इत्था इत्थमेवं यथोक्तसाधनवानिवेत्यर्थः । वेद विजानाति यत्र स आत्मेति ॥ २५ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-
श्रीमदाचार्यश्रीशंकरभगवतः कृतौ काठकोपनिषद्भाष्ये
प्रथमाध्याये द्वितीयवल्लीभाष्यं समाप्तम् ॥ २ ॥

---

आ० टी०—यस्त्वनेवंभूत उक्तसाधनसंपन्नो न भवति स कथं वेदेति संबन्धः । अशनत्वेऽप्यपर्याप्त इति । अन्नत्वेऽप्यसमर्थः शाकस्थानीय इत्यर्थः । यत्र स्वे महिम्नि स विश्वोपसंहर्ता तथाभूतं तं को वेदेति संबन्धः ॥ २५ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविर-
चिते काठकोपनिषद्भाष्यव्याख्याने द्वितीया वल्ली समाप्ता ॥ २ ॥

---

गो० टी०—यस्त्वनेवंभूत इति । उक्तसाधनसंपन्नो न भवति स कथं वेदेति संबन्धः । यद्ब्रह्मसाधनवता विज्ञेयं तन्निर्दिशति—यस्येति । सर्वधर्मविधारकत्वं सर्वत्राणे हेतुः । सर्वत्राणभूते अपीत्यन्वयः । अशनत्वेऽप्यपर्याप्त इत्यन्नत्वेऽप्यपर्याप्तः शाकस्थानीय इत्यर्थः । क इतिशब्दार्थमाह—प्राकृतबुद्धिरिति । इत्थाशब्दार्थमाह—एवमिति । यत्र स्वमहिम्नि सोऽस्ता वर्तते तथाभूतं को वेदेत्यन्वयः ॥ २५ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्यश्रीमद्बालगोपालेन्द्रयतीश्वरविरचिते काठ-
कोपनिषद्भाष्यविवरणे प्रथमाध्याये द्वितीया वल्ली समाप्ता ॥ २ ॥

---

ऋतं पिबन्तावित्यस्या वल्ल्याः संबन्धः । विद्याविद्ये नानाविरुद्धफले इत्युपन्यस्ते न तु सफले ते यथावन्निर्णीते । तन्निर्णयार्थो रथरूपककल्पना, तथा च प्रतिपत्तिसौकर्यम् । एवं च प्राप्तृप्राप्य[3]गन्तृगन्तव्य-विवेकार्थं[4] द्वावात्मानावुपन्यस्येते—

**ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे**
**परार्धे (र्ध्ये)। छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति पञ्चाग्नयो**
**ये च त्रिणाचिकेताः ॥ १ ॥**

ऋतं सत्यमवश्यंभावित्वात्कर्मफलं पिबन्तौ । एकस्तत्र कर्मफलं पिबति भुङ्क्ते नेतरस्तथाऽपि पातृसंबन्धात्पिबन्तावित्युच्यते छत्रिन्या-

---

१ ख. ज. 'र्थाय र' । २ ग. ङ. च. ज. झ. ञ. ठ. 'प्राप्यप्राप्तृग' । ख. घ. 'प्राप्तृप्राप्तग' । ३ ग. च. 'प्यगन्त' । ४ क. ख. च. ज. 'र्थं रथरूपकद्वारा द्वा' ।

येने । सुकृतस्य स्वयंकृतस्य कर्मण ऋतमिति पूर्वेण संबन्धः । लोकेऽस्मिञ्शरीरे । गुहां गुहायां बुद्धौ प्रविष्टौ । परमे बाह्यपुरुषाकाशसंस्थानापेक्षया परमम् । परस्य ब्रह्मणोऽर्धं स्थानं परार्ध( र्ध्य )म् । तस्मिन्हि परं ब्रह्मोपलभ्यते । अतस्तस्मिन्परमे परार्धे(र्ध्ये) हार्दाकाशे प्रविष्टावित्यर्थः । तौ च च्छायातपाविव विलक्षणौ संसारित्वासंसारित्वेन ब्रह्मविदो वदन्ति कथयन्ति । न केवलमकर्मिण एव वदन्ति । पञ्चाग्नयो गृहस्थाः । ये च त्रिणाचिकेताः, त्रिःकृत्वो नाचिकेतोऽग्निश्चितो यैस्ते त्रिणाचिकेताः ॥ १ ॥

---

आ० टी०—रथरूपककल्पनेति । प्रसिद्धरथसादृश्यकल्पनेत्यर्थः । ऋतपानकर्ता जीवस्तावदेकश्चेतनः सिद्धो द्वितीयान्वेषणायां लोके संख्याश्रवणे समानस्वभावे प्रथमप्रतीतिदर्शनाच्चेतनतया समानस्वभावः परमात्मैव द्वितीयः प्रतीयते । तस्य चोपचाराद्दृतपतृत्वमित्यर्थः । बाह्यपुरुषाकारसंस्थानं देहाश्रय आकाशप्रदेशः । पञ्चाग्नय इति । गार्हपत्यो दक्षिणाग्निराहवनीयः सभ्य आवसथ्यश्चेत्येते पञ्चाग्नयो येषां ते यथोक्ताः । द्युपर्जन्यपृथिवीपुरुषयोषित्स्वग्निदृष्टिं ये कुर्वन्ति तेऽग्निहोत्रादिकारिणस्ते वा पञ्चाग्नय इत्यर्थः ॥ १ ॥

---

गो० टी०—पूर्वोत्तरवल्लीनां संबन्धं दर्शयन्नुत्तरवल्या अगतार्थत्वमाह–ऋतमित्यादिना । संबन्ध इति । पूर्वाभ्यामभिधीयत इति शेषः । नानाफले इत्युक्ते पशुब्रह्मवर्चसादिवदविरुद्धत्वं स्यात्तद्वारयति–विरुद्धेति । इतिरुक्तपरामर्शी । उपन्यस्ते इति । पूर्वयोर्वल्ल्योरिति शेषः । न त्विति । सफले ते विद्याविद्ये यथावत्स्वरूपतः साधनतः फलतश्च न निर्णीते इत्यर्थः । ननु ते एव निर्णी[र्णे]तव्ये किमिति रथिरथादिकल्पनेत्यत आह–उभिर्णयार्थेति । यद्यपि स्वरूपतो निरूप्येते तथाऽपि ज्ञाने सौकर्यमित्याह–तथा चेति । ननु रूपकेण विद्याविद्ये निरूप्ये किमिति द्वावृतपानकर्तारावभिधीयेते इत्यत आह–एवं चेति । रूपके रथी प्राप्ता प्राप्यं पदं गन्ता ज्ञाता गन्तव्यं विष्णोः पदम् । कश्च गन्ता किंच पदं गन्तव्यमिति विवेकार्थं द्वावात्मानावुपन्य-

---

१ झ. ञ. ट. °न । न हि केवलस्याऽऽत्मनो भोक्तृत्वमस्ति । बुद्ध्याद्युपाधिकृतमेव भोक्तृत्वम् । एवं च सति वक्ष्यमाणरथकल्पनया वैष्णवस्य + पदस्याऽऽत्मतया प्रतिपत्तिरुपपद्यते नान्यथा सुकृ°। २ क. °रमे परार्धे प° । ग. घ. °रमे । प° । ३ क. ख. ग. च. म. °स्य च ब्र° । ४ क. °येहार्दाकाशे त° । ५ घ. झ. ञ. परब्र° । ६ क. °लभ्यते । ७ क. ख. घ. ङ. ज झ. °ते । तस्मि° । ङ. ढ. °ते । तत° ।

---

+ ङ. °वस्यापादस्याऽऽत्म° । ग. °वस्य पद° ।

स्येते इत्यर्थः। नन्वात्मशब्दश्चेतनवाची न च द्वौ चेतनौ प्रतीयेते ऋतपानकर्तृमात्रप्रती-तेस्तत्कथमात्मानावित्युच्येते इति चेन्न। एकस्तावत्कर्मफलभोक्ता जीवश्चेतनः सिद्धो द्वितीयान्वेषणायां सत्यां संख्याश्रवणेऽस्य गौर्द्वितीयोऽन्वेष्टव्य इत्युक्ते गौरेव द्वितीयोऽ-न्विष्यते नाश्वो लोक एवं चेतन एव द्वितीयो ऋतपानकर्ता प्रतीयत इति नाऽऽत्मशब्दे विरोध इति भावः। अत्रर्तशब्दः सत्यवचनोऽपि गुणयोगात्कर्मफलवाचीत्याह—ऋतमित्यादिना। नन्वस्मिन्वाक्ये जीवेश्वरावेव चेतनावुपन्यस्येते न च द्वयोः कर्म-फलसंबन्ध ईश्वरस्य तदसंभवात्कथं पिबन्तावित्यत आह—एक इति। जीव इत्यर्थः। इतर ईश्वर इत्यर्थः। कथं पिबन्तावित्यत आह—तथाऽपीति। पातृसंबन्धादिति। पाता जीवस्तत्संबन्धादित्यर्थः। छत्रिन्यायेनेति। यथा लोके छत्रिणो गच्छन्तीति प्रयोगे सपरिवारे राज्ञि गच्छति छत्र्यच्छत्रिसमुदाये छत्रिशब्दो वर्तत एकसमूहवाचि-त्वेनैवं पिबदपिबत्समुदाये पिबतिर्वर्तत इत्यर्थः। सुकृतस्य लोक इत्यन्वयभ्रमं वारय-ति—ऋतमितीति। बाह्यपुरुषाकाश [सं]स्थानं देहाश्रय आकाशप्रदेशः। स्थान-मित्यनन्तरमर्हतीति द्रष्टव्यम्। परार्ध इति क्वचित्कः श्रुतिपाठस्तस्मिन्पक्षे सुगमम्। परार्धं ध्येयत्वमुपपादयति—तस्मिन्निति। अत इति। यतः परब्रह्मोपलब्धिस्थान-मत इत्यर्थः। गार्हपत्यो दक्षिणाग्निराहवनीयः सभ्य आवसथ्यश्चैते पञ्चाग्नयो येषां ते पञ्चाग्नयः। द्युपर्जन्यपृथिवीपुरुषयोषित्सु येऽग्निदृष्टिं कुर्वन्ति ते वा पञ्चाग्नयः। पञ्चाग्नयस्त्रिणाचिकेतलक्षणा वदन्तीति संबन्धः॥ १॥

---

**यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम्। अभयं**
**तितीर्षतां पारं नाचिकेतꣳ शकेमहि॥ २॥**

यः सेतुरिव सेतुरीजानानां यजमानानां कर्मिणां दुःखसंतरणार्थ-त्वान्नाचिकेतोऽग्निस्तं वयं ज्ञातुं चेतुं च शकेमहि शक्नुवन्तः। किंच यच्चाभयं भयशून्यं संसारपारं तितीर्षतां तर्तुमिच्छतां ब्रह्मविदां यत्पर-माश्रयमक्षरमात्माख्यं ब्रह्म तच्च ज्ञातुं शकेमहि शक्नुवन्तः। परापरे ब्रह्मणी कर्मब्रह्मविदाश्रये वेदितव्ये इति वाक्यार्थः। एतयोरेव ह्युपन्यासः कृत ऋतं पिबन्ताविति॥ २॥

---

आ० टी०—ननु न सन्ति ब्रह्मविदः पञ्चाग्निविदश्च सांप्रतमनुपलम्भादित्याशङ्क्य पूर्वविद्वदनुभवविरोधमाह—यः सेतुरिवेत्यादिना। पूर्वेषां यद्यपि ब्रह्मवित्त्वादि संभवति प्रभावातिशयात्तथाऽपि नाऽऽधुनिकानामल्पप्रज्ञानां संभवतीत्याशङ्क्य चेतनत्वात्स्वाभा-विकी ज्ञातृत्वयोग्यताऽस्तीत्यभिप्रेत्य तात्पर्यमाह—परापरे इति॥ २॥

---

१ क. 'न्नाचिकेतं नाचि'। २ घ. 'केतस्तं व'। ३ क. 'रस्य पा'। ४ क. ख. ङ. च. हि। प'। ५ ख. घ. 'र्थः : यो'। ङ. 'र्थः। तयो'।

गो० टी०—ननु न सन्त्येव ब्रह्मविदः पञ्चाग्निविदश्चानुपलम्भादित्याशङ्क्य पूर्वविद्वदनुभवविरोधमाह—यः सेतुरिति । कर्मिणामिति । कर्मानुष्ठानवतामित्यर्थः । विराड्रूपाग्नेः सेतुत्वं व्युत्पादयति–दुःखेति । दुःखाय संतरणं निवृत्तिः सैवार्थः प्रयोजनं यस्य तस्य भावस्तत्त्वं तस्मादित्यर्थः । नाचिकेतोऽग्निरुक्तहेतोः सेतुरिव सेतुर्य इति पूर्वेण संबन्धः । तं नाचिकेताग्निं न केवलं ज्ञातुं किंतु कर्तुमपीत्याह–चेतुमिति । संकोचकप्रमाणाभावात्सर्वभयातीतमित्याह— संसारपारमिति । संसारातीतमित्यर्थः । तर्तुमिच्छतां प्राप्तुमिच्छताम् । आश्रयमवलम्बनम् । न क्षरतीत्यक्षरं षड्भावविकारशून्यं न परोक्षं किंतु प्रत्यग्भूतमित्यर्थः । चकारादपरब्रह्मात्मकाग्निं ज्ञातुं चेतुं परब्रह्म ज्ञातुमेव शक्नुवन्त इत्येतत्समुच्चयोऽवगम्यते । ननु यद्यपि पूर्वेषां ब्रह्मविस्त्वं संभवति महामहिमत्वात्तथाऽपि नाऽऽधुनिकानामल्पप्रज्ञानामित्याशङ्क्य प्रमातृमात्रस्य चेतनत्वेन ज्ञातृत्वशक्तियोग्यतेश्वरानुग्रहादिना संभवतीत्यभिप्रेत्य तात्पर्यमाह–परापरे इति । कर्मविद्याश्रयोऽपरं ब्रह्म ब्रह्मविदाश्रयः परं ब्रह्मेति विभागः । ननु नर्तपानकर्त्रोर्ब्रह्मवित्प्रसिद्धत्वमन्ययोरेवेत्याशङ्क्याऽऽह—एतयोरिति । कर्मब्रह्मविदाश्रययोः परापरब्रह्मणोर्ऋतं पिबन्तावित्यत्रोपन्यासो हि यस्मात्कृतस्तस्मात्रान्यत्वाशङ्केत्यर्थः ॥ २ ॥

---

आत्मानꣳ रथिनं विद्धि शरीरꣳ रथमेव तु ।

बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च ॥ ३ ॥

तत्र य उपाधिकृतः संसारी विद्याविद्ययोरधिकृतो मोक्षगमनाय संसारगमनाय च तस्य तदुभयगमने साधनो रथः कल्प्यते । तत्र तमात्मानमृतपं संसारिणं रथिनं रथस्वामिनं विद्धि जानीहि । शरीरं रथमेव तु रथबद्धहयस्थानीयैरिन्द्रियैराकृष्यमाणत्वाच्छरीरस्य । बुद्धिं तु, अध्यवसायलक्षणां सारथिं विद्धि बुद्धिनेतृप्रधानत्वाच्छरीरस्य । सारथिनेतृप्रधान इव रथः । सर्वं हि देहगतं कार्यं बुद्धिकर्तव्यमेव प्रायेण । मनः संकल्पवि*कल्पादिलक्षणं प्रग्रहं रशनां विद्धि । मनसा हि प्रगृहीतानि श्रोत्रादीनि करणानि प्रवर्तन्ते रशनयेवाश्वाः ॥ ३ ॥

---

आ० टी०—तत्रेति । तयोः प्रथमग्रन्थोक्तयोरात्मनोर्मध्ये ॥ ३ ॥

---

गो० टी०—रथरूपकवाक्यमवतारयति–तत्रेति । जीवात्मपरमात्मनोर्मध्ये । उपाधिकृत उपाधिपरिच्छिन्न इत्यर्थः । ईश्वरं व्यावर्तयति—संसारीति । मुक्तजीवं

---

* अत्र टीकानुरोधेन विकल्पशब्दोऽधिकः ।

---

१ झ. भ. ढ. 'कृतोऽतो मो' । २ क. 'ल्प्यत इत्याह त' । ३ क. ख. ग. घ. ङ. ञ ढ. तत्राऽऽत्मा' । ४ क. ख. ज प्रहमेव च र ।

र्थान्तरमिति-विशेषणाद्विना । साक्षात्कारकर्मणोरित्यर्थः । कस्मै प्रयोजनायेत्याकाङ्क्षायामाह-मोक्षेति । विद्यायामधिकृतो मोक्षगमनायाविद्यायामधिकृतः संसारगमनायेति विभागः । तत्रेति । विद्याविद्ययोरधिकृतस्य तद्गमनगमनसाधनः संसारमोक्षगमनसाधनः । रथगमनागमनजन्यफलभोक्तृत्वस्वामिसाम्यं विवक्षित्वा तमाह-रथिनमिति । शुद्धचैतन्यं व्यावर्तयति-ऋतपामिति । ईश्वरं व्यावर्तयति-संसारिणमिति । रथस्वामिनमिति । रथतादात्म्याभिमानिनमित्यर्थः । शरीरस्य रथत्वसाम्ये हेतुमाह-रथवदिति । अन्तःकरणस्यैक्येऽपि वृत्तिभेदेन भेदं विवक्षित्वा सारथिप्रग्रहकल्पनेत्याह-बुद्धिं त्विति । अध्यवसायलक्षणाम् । अध्यवसायो निश्चयो लक्षणं स्वरूपं यस्याः सा तामित्यर्थः । पूर्ववत्साम्ये हेतुमाह-बुद्धीति । बुद्धिर्नेता(त्री)प्रापयित्री प्रधानं स्वतन्त्रभूता यस्य शरीरस्य तत्तथा तस्य भावस्तत्त्वं तस्मादित्यर्थः । तत्र दृष्टान्तमाह-सारथिनेतृप्रधान इव रथ इति । सारथिर्नेता प्रापयिता प्रधानः स्वतन्त्रो यस्य स इवेत्यर्थः । ननु मनआदीन्यपि शरीरनेतॄणि तत्कथं बुद्धेरेव नेतृत्वेन सारथित्वमत आह-सर्वं हीति । देहगतं सर्वं कार्यं गमनागमनादि प्रायेण बुद्ध्या कर्तव्यं हि यस्मात्तस्मात्प्राधिकाभिप्रायेण बुद्धेरेव नेतृत्वात्सारथित्वं युक्तमित्यर्थः । सारथिहस्ते विद्यमानं हयाकर्षणसूत्रं प्रग्रहशब्दितं मन इत्याह-मन इति । संकल्प इदमेवं करिष्य इति शब्दः । आदिशब्देन विकल्पो गृह्यते । स्थाणुर्वा पुरुषो वेत्यादिसंशयरूपमित्यर्थः । तस्य रशनात्वं प्रसिद्धरशनासाम्येनोपपादयति-मनसेत्यादिना । प्रगृहीतान्याकृष्टानि । रशनयेति । यथा सूत्रेणाश्वा आकृष्यन्ते तद्वदित्यर्थः ॥ ३ ॥

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयाꣳस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥ ४ ॥

इन्द्रियाणि चक्षुरादीनि हयानाहू रथकल्पनाकुशलाः शरीररथाकर्षणसामान्यात् । तेष्वेवेन्द्रियेषु हयत्वेन परिकल्पितेषु गोचरान्मार्गान्रूपादीन्विषयान्विद्धि । आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं शरीरेन्द्रियमनोभिः सहितं संयुक्तमात्मानं भोक्तेति संसारीत्याहुर्मनीषिणो विवेकिनः । न हि केवलस्याऽऽत्मनो भोक्तृत्वमस्ति बुद्ध्याद्युपाधिकृतमेव तस्य भोक्तृत्वम् । तथा च श्रुत्यन्तरं केवलस्याभोक्तृत्वमेव दर्शयति-ध्यायतीव लेलायतीवेत्यादि । एवं च सति वक्ष्यमाणरथकल्पनया वैष्णवस्य पदस्याऽऽत्मतया प्रतिपत्तिरुपपद्यते नान्यथा स्वभावानतिक्रमात् ॥ ४ ॥

१ ट. 'नोमोक्तं' । २ ग. ञ. ड. तेष्विन्द्रि' । ३ घ. ङ. भोक्तारं सं' ।

आ० टी०—आत्मा रथस्वामी यः कल्पितस्तस्य भोक्तृत्वं च न स्वाभाविकमित्याह—आत्मेन्द्रियमनोयुक्तमिति । औपाधिके भोक्तृत्वेऽन्वयव्यतिरेकौ शास्त्रं च प्रमाणमित्याह—न हि केवलस्येति । वैष्णवपदप्राप्तिश्रुत्यनुपपत्त्याऽपि न स्वाभाविकं भोक्तृत्वं वाच्यमित्याह—एवं च सतीति ॥ ४ ॥

गो० टी०—प्रग्रहवत्सारथिना(भ्य)धिष्ठितरथाकर्षकहयतुल्यानीन्द्रियाणीत्याह—इन्द्रियाणीति । क इत्याकाङ्क्षायामाह—रथेति । रथत्वेन शरीरं कल्पयन्ति निरूपयन्ति येऽध्यात्मविदस्त इत्यर्थः । पूर्ववत्साम्ये हेतुमाह—शरीरेति । आकर्षणं हयधर्मस्तत्साम्यादित्यर्थः । यथा भद्रसेनस्य राज्ञो रथिनो रथहयगन्तव्यमार्गाः कुरव एवमिन्द्रियहयगन्तव्य(मार्गा) विषया इत्याह—तेष्विति । तच्छब्दं व्याचष्टे—इन्द्रियेष्वित्यादिना । आदिशब्देन स्पर्शशब्दरसगन्धा गृह्यन्ते । रथस्वामित्वेन य आत्मा कल्पितस्तस्य भोक्तृत्वं च न स्वाभाविकमित्याह—आत्मेन्द्रियमनोयुक्तमिति । औपाधिकभोक्तृत्वेऽन्वयव्यतिरेकौ शास्त्रं च प्रमाणमित्याह—न हि केवलस्येति । उपाध्यपरिच्छिन्नस्येत्यर्थः । शास्त्रमुदाहरति—तथा चेति । ध्यायतीव लेलायतीवेत्यादिश्रुत्यन्तरमुपाध्यनवच्छिन्नस्यासंसारित्वमेव दर्शयति न संसारित्वमित्यर्थः । वैष्णवपदप्राप्तिश्रुत्यनुपपत्त्याऽपि न स्वाभाविकसंसारित्वमित्याह—एवं च सतीति । औपाधिके भोक्तृत्वे सतीत्यर्थः । वक्ष्यमाणा या रथकल्पना विज्ञानसारथिर्यस्त्वित्यादिना तया वैष्णवस्य पदस्य व्यापकस्वरूपस्याऽऽत्मतया प्रत्यगभिन्नत्वेन प्रतिपत्तिः प्राप्तिरवस्थानमुपपद्यत इत्यर्थः । नान्यथेति । अन्यथा संसारित्वस्य स्वाभाविकत्वेन प्रतिपत्तिर्नोपपद्यत इत्यन्वयः । तत्र हेतुमाह—स्वभावानतिक्रमादिति । स्वभावस्य पारमार्थिकस्य संसारित्वस्यानतिक्रमादतिक्रमाभावात्त्यागाभावादसंसारिवैष्णवपदप्राप्तेरित्यर्थः ॥ ४ ॥

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्ययुक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाण्यवश्यानि दुष्टाश्वा इव सारथेः ॥ ५ ॥

तत्रैवं सति यस्तु बुद्ध्याख्यः सारथिरविज्ञानवाननिपुणोऽविवेकी प्रवृत्तौ च निवृत्तौ च भवति यथेतरो रथचर्यायामयुक्तेनाप्रगृहीतेनासमाहितेन मनसा प्रग्रहस्थानीयेन सदा युक्तो भवति तस्याकुशलस्य बुद्धिसारथेरिन्द्रियाण्यश्वस्थानीयान्यवश्यान्य * शक्यान्यनिवारणीयानि दुष्टाश्वा अदान्ताश्वा इवेतरसारथेर्भवन्ति ॥ ५ ॥

* अशक्यनिवारणानीति पाठो युक्तस्तस्यैव टीकाकृताऽऽदृतत्वात् ।

१ ङ. भ. ट. 'त्तौ नि' । २ घ. 'ति तथे' । ३ भ. 'लस्याबु' ४ ग. ङ. ञ. भ. ट. 'दान्ता इ' ।

आ० टी०—॥ ५ ॥

गो० टी०—पूर्वोक्तान्वयव्यतिरेकावुपसंहरति--तत्रेति । तत्र संसारित्वस्यास्वाभाविकत्वे । एवमुक्तप्रकारेण । यस्त्विति । यथा येन प्रकारेणेतरः सारथी रथगमने प्रग्रहेणायुक्तस्तथाऽसमाहितेन प्रग्रहस्थानीयेन मनसा युक्तो यस्तु कर्तव्याकर्तव्ययोरनिपुणो भवतीत्यर्थः । अविज्ञानवत्त्वेन न विज्ञानसामान्याभावः किंतु बुद्धिगतातिशयाभावः । सोऽप्यविवेकरूप इत्यर्थः । अबु(र्थः । बु )द्धिसारथेरविवेकसारथेः । अशक्यनिवारणीयानी(रणानी)ति । विषयेभ्य इति शेषः । इतरसारथेर्लौकिकस्यादान्ताश्वाः कुमार्गाद्यथा निवर्तयितुं न शक्यन्ते तथा बुद्धिसारथेरसमाहितानीन्द्रियाण्यशक्यनिवारणानि भवन्तीत्यन्वयः ॥ ५ ॥

यस्तु विज्ञानवान्भवति युक्तेन मनसा सदा ।
तस्येन्द्रियाणि वश्यानि सदश्वा इव सारथेः ॥ ६ ॥

यस्तु पुनः पूर्वोक्तविपरीतः[1] सारथिर्भवति विज्ञानवान्प्रगृहीतमनाः[2] समाहितचित्तः सदा तस्याश्वस्थानीयानीन्द्रियाणि प्रवर्तयितुं निवर्तयितुं वा शक्यानि[3] वश्यानि दान्ताः सदश्वा इवेतरसारथेः ॥ ६ ॥

आ० टी०—॥ ६ ॥

गो० टी०—पूर्वोक्तविपरीत इति । अविवेकसारथेर्भिन्न इत्यर्थः । मनोनियतौ हेतुमाह-समाहितेति । विषयस्मरणवाच्चित्तनिग्रहे विषयविकल्पात्मकं मनो निगृहीतं भवतीति भावः । शक्यानि कर्तव्याकर्तव्ययोरिति शेषः । सत्पदस्यार्थमाह—दान्ता इति । लौकिकसारथिशिक्षिताश्वा इव समाहितचित्ततया प्रगृहीतमनसः शक्यानीन्द्रियाणि कर्तव्याकर्तव्ययोर्निग्रहीतुमित्यर्थः ॥ ६ ॥

तस्य[4] पूर्वोक्तस्याविज्ञानवतो बुद्धिसारथेरिदं फलमाह—

यस्त्वविज्ञानवान्भवत्यमनस्कः सदाऽशुचिः ।
न स तत्पदमाप्नोति संसारं चाधिगच्छति ॥ ७ ॥

यस्त्वविज्ञानवान्भवति । अमनस्कोऽप्रगृहीतमनस्कः[5] स तत एवाशुचिः सदैव । न[6] स रथी तत्पूर्वोक्तमक्षरं[7] यत्परं पदमाप्नोति[8] तेन सार-

१ क. ख. ग. घ. °रीतसा° । २ क. ख. °वान्निपुणो विवेकवान्युक्तेन मनसा प्रगृ° । ञ. °वान्निपुणो विवेकवान्प्र° । ३ ख. ज. °नि दा° । ४ क. ख. घ. ङ. च. ञ. ढ. ठ. तत्र पू° । ५ क. झ. ञ. ढ. °स्कोऽपरिगृ° । ६ ग. झ. ञ. न सारथी । ७ ग. घ. च. °रं ब्रह्म य° । ८ ङ. झ. ञ. ट. पदं प्राप्नो° ।

थिना । न केवलं कैवल्यं नाऽऽप्नोति संसारं च जन्ममरणलक्षणमधिगच्छति ॥ ७ ॥

आ० टी०—॥ ७ ॥

गो० टी०—अविवेकबुद्धेरनियतेन्द्रियस्य फलपरत्वेनोत्तरं वाक्यमवतारयति—यस्त्वित्यादिना । मनोनिग्रहाभावेऽविवेकित्वादिन्द्रियपारवश्येन पाप्मोपचये दूषितान्तःकरणोऽशुचिरित्याह—तत एवेति । कार्यब्रह्मव्यावृत्त्यर्थमाह—परमिति । ननु चेतनस्य बन्धो यस्य बन्धस्तस्य मोक्षो बुद्धेश्च बन्धाभावाद्यत्परं पदं तदक्षराख्यं सारथिर्नाऽऽप्नोतीति कथमुच्यते तत्राऽऽह—तेनेति । चेतन इति शेषः । कैवल्यं राजपुरप्रवेशस्थानीयमित्यर्थः । जन्ममरणादिलक्षणं कण्टकपाषाणाद्युपप्लुतदेशतुल्यम् ॥ ७ ॥

यस्तु विज्ञानवान्भवति समनस्कः सदा शुचिः ।
स तु तत्पदमाप्नोति यस्माद्भूयो न जायते ॥ ८ ॥

यस्तु द्वितीयो विज्ञानवान्विज्ञानवत्सारथ्युपेतो रथी विद्वानित्येतत् । युक्तमनाः समनस्कः स तत एव सदा शुचिः स तु तत्पदमाप्नोति । यस्मादाप्तात्पदादप्रच्युतः सन्भूयः पुनर्न जायते संसारे ॥ ८ ॥

आ० टी०—॥ ८ ॥

गो० टी०—तद्विपरीतस्य पदप्राप्तिरित्याह—यस्त्विति । कर्तव्याकर्तव्यविवेको विज्ञानं तद्वान्यः सारथिर्बुद्धिरूपस्तेनोपेत इत्यर्थः । विद्वानिति । क्रमेणेति शेषः । तत एव निगृहीतमनस्कत्वादेव । सदा शुचिरिति । स्वच्छान्तःकरण इत्यर्थः । तच्च पदं न सातिशयमित्याह—यस्मादिति ॥ ८ ॥

किं तत्पदमित्याह—

विज्ञानसारथिर्यस्तु मनःप्रग्रहवान्नरः । सोऽध्वनः
पारमाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ ९ ॥

विज्ञानसारथिर्यस्तु यो विवेकबुद्धिसारथिः पूर्वोक्तो मनःप्रग्रहवान्प्रगृहीतमनाः समाहितचित्तः सञ्शुचिर्नरो विद्वान्सोऽध्वनः संसारगतेः पारं परमेवाधिगन्तव्यमित्येतदाप्नोति मुच्यते सर्वसंसारबन्धनैः ।

१ क. °लं तन्नाऽऽप्नो° । ख. ग. घ. ङ. च. ज झ. ट. ठ. °लं ना° । २ ठ. °ति—यस्त्विला° । ३ क. ख. ज. °वान्भवति विज्ञा° । ४ ङ. च. °चिः संस्तु त° । ५ घ. स त° । ६ ङ. झ. ञ. ट. °दात्मनः पदा° । ७ घ. °दच्यु° ८ ङ. झ. ञ. ट. °कता° । ९ ख. ग घ. च. °र्वोक्तम° । १० घ. °वान्गृही । ११ ङ. च. ञ. ट. °तेः परं पार° । १२ घ. ङ. °रं पारमे° । १३ ङ. झ. ञ. ट. परमिवा° । १४ क. ख. ग. ज. पूर्वैः सं° । १५ ख. घ. ङ. च. °नैः । विष्णो° ।

तद्विष्णोर्व्यापनशीलस्य ब्रह्मणः परमात्मनो वासुदेवाख्यस्य परमं प्रकृष्टं पदं स्थानं सतत्त्वमित्येतद्यदसावाप्नोति विद्वान् ॥ ९ ॥

आ० टी०—॥ ९ ॥

गो० टी०-तत्र हेतुत्वेन पदस्वरूपमाकाङ्क्षापूर्वकं दर्शयति—किमित्यादिना । निगृहीतमनास्तत्त्वंपदार्थविवेकवानात्मनि समाहितचित्तः सन्निदिध्यासनवांस्तेन गतप्रतिबन्धः शुचिर्नरो विद्वानप्रतिबन्धेन साक्षात्कारवान्यः सोऽध्वनः संसारान्तर्भूतदेवयानदक्षिणायनाद्योगतिरूपाया गतेः पारं तद्प्राप्यं तदाप्नोतीत्यर्थः । नन्वात्मस्वरूपस्य नित्याप्तत्वात्प्नोतीति कथं तत्राऽऽह—मुच्यत इति । प्रत्यगितरयोरावरकाज्ञाननिवृत्त्यावाप्नोतीत्यौपचारिकमिति भावः । आकाशं व्यावर्तयति-ब्रह्मण इति । हिरण्यगर्भं व्यावर्तयति-वासुदेवाख्यस्येति । वासुदेव इत्याख्या यस्य सः । वासयति भूतानि स्वस्मिन्निति वासुः स चासौ देवश्च दीव्यत इति स्वप्रकाशः स वासुदेव इत्यर्थः । अनेन तत्पदवाच्यमभिहितम् । तस्य लक्ष्यमाह—परममिति । अथवा षष्ठी राहोः शिर इतिवदौपचारिकी । व्यापकं प्रकृष्टं पदमित्यर्थः । सतत्त्वं स्वरूपम् ॥ ९ ॥

अधुना यत्पदं गन्तव्यं तस्येन्द्रियाणि स्थूलान्यारभ्य सूक्ष्मतारतम्यक्रमेण प्रत्यगात्मतयाऽधिगमः कर्तव्य इत्येवमर्थमिदमारभ्यते—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु[3] परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्परः ॥ १० ॥

स्थूलानि तावदिन्द्रियाणि तानि यैरर्थैरात्मप्रकाशनायाऽऽरब्धानि तेभ्य इन्द्रियेभ्यः स्वकार्येभ्यस्ते परा ह्यर्थाः सूक्ष्मा महान्तश्च प्रत्यगात्मभूताश्च[४] । तेभ्योऽप्यर्थेभ्यश्च परं सूक्ष्मतरं महत्प्रत्यगात्मभूतं च मनः । मनःशब्दवाच्यं मनस आरम्भकं भूतसूक्ष्मम् । संकल्पविकल्पाद्यारम्भकत्वान्मनसोऽपि परा सूक्ष्मतरा महत्तरा प्रत्यगात्मभूता च बुद्धिशब्दवाच्यमध्यवसायाद्यारम्भकं भूतसूक्ष्मम् । बुद्धेरात्मा सर्वप्राणिबुद्धीनां[१०] प्रत्यगात्मभूतत्वादात्मा महान्सर्वमहत्त्वादव्यक्ताद्यत्प्रथमं जातं हैरण्यगर्भं तत्त्वं बोधाबोधात्मकं महानात्मा बुद्धेः पर इत्युच्यते ॥ १० ॥

१ ङ. 'लब्ध' । २ क. 'तत्पदमेवाऽऽप्नोति वि' । ख. ज. 'तस्य पदमवाप्नोति वि' । घ. तत्पदमाप्नोति वि' । ३ क. 'सश्च प' । ४ ख. ज. तेभ्यो ह्यर्थे' । ङ. तेभ्योऽर्थे' । ५ क. ख. ज. ढ. 'इन्महदादिपदं सर्वत्र व्यापकत्वेन ज्ञेयमत्र प्रत्य' । ६ ग. घ. 'कल्पकाद्या' । ७ ग. घ. सूक्ष्मा म' । ८ क. ज. ङ. 'ता बु' । ९ ष. 'थमजा' । १० क. ख. ङ. ज. 'तं हैरण्यगर्भत' . च. 'तं हिर' । ङ. 'तं हिरण्यगर्भत' ।

आ० टी०—प्रत्यगात्मभूताश्चेति । प्रत्यगनपायिस्वरूपभूता इत्यर्थः । नन्वर्थेभ्यो मनस आरम्भकं भूतसूक्ष्मं परम् । तस्माद्बुद्ध्यारम्भकं भूतसूक्ष्मं परमिति न युक्तम् । कार्यापेक्षया ह्युपादानमुपचितावयवं व्यापकमनपायिस्वरूपं च प्रसिद्धम् । यथा घटादेर्मृदादिः । न चेह भूतसूक्ष्माणां परस्परकार्यकारणभावे मानमस्ति । सत्यम् । तथाऽपि विषयेन्द्रियव्यवहारस्य मनोधीनतादर्शनान्मनस्तावद्व्यापकं कल्प्यते । तच्च परमार्थत एवाऽऽत्मभूतमिति केषांचिद्भ्रमस्तन्निरासायोक्तं मनःशब्दवाच्यं भूतसूक्ष्ममिति । अन्नमयं हि सोम्य मन इत्यादिश्रुतेर्भौतिकत्वावगमादन्नभावाभावाभ्यामुपचयापचयदर्शनाद्भौतिकमेव तत् । तस्य च संकल्पादिलक्षणस्याध्यवसायनियम्यत्वाद्बुद्धि(द्धे)स्ततः पर[त्व]मिति । बुद्धिश्चाऽऽत्मेति । केषांचिदभिमानस्तदपनयार्थमाह—बुद्धिशब्दवाच्यमिति । करणत्वादिन्द्रियवद्बुद्धेर्भौतिकत्वं सिद्धम् । करणत्वं च स्वबुद्ध्याऽहमुपलभ्य इत्यनुभवात्सिद्धम् । ततो भूतावयवसंस्थानेष्वेवार्थादिषूत्तरोत्तरं परापरत्वं (परत्वं) कल्प्यं परमपुरुषार्थादिदर्शयिषया । न त्वर्थादीनां परत्वं प्रतिपिपादयिषितं प्रयोजनाभावाद्वाक्यभेदप्रसङ्गाच्चेति । सुरनरतिर्यगादिबुद्धीनां विधारकत्वात्सातत्यगमनाद्वाऽऽत्मोच्यते । सूत्रसंज्ञकं हैरण्यगर्भतत्त्वमित्यर्थः । बोधाबोधात्मकमिति । ज्ञानक्रियाशक्त्यात्मकमित्यर्थः । अथवाऽधिकारिपुरुषाभिप्रायेण बोधात्मकत्वमव्यक्तस्याऽऽद्यः परिणाम उपाधिरपञ्चीकृतभूतात्मकस्तेन रूपेणाबोधात्मकत्वं हिरण्यगर्भस्येत्यर्थः ॥१०॥

---

गो० टी०—ननु तत्पदलक्ष्यविष्णोः प्रकृष्टं पदमाप्तव्यमित्युक्तं तत्किं केनचिन्मार्गेण देशविशेषे गन्तव्यं तदपि भिन्नतया ग्रामाधिगमनवद्गन्तव्यं तथात्वे मोक्षस्यानित्यत्वापत्तिस्तस्य प्रकृष्टत्वं च कथमित्याशङ्क्याऽऽह—अधुनेत्यादिना । असावधिकारी यदाप्नोतीत्येतद्व्याचष्टे—यत्पदमिति । तस्य पदस्याधिगमः कर्तव्य इत्यन्वयः । कथं प्रकृष्टत्वमित्यस्योत्तरमाह—इन्द्रियाणीति । सूक्ष्मेति । विषयमनोबुद्ध्यादिक्रमेणेत्यर्थः । तत्किं केनचिन्मार्गेण देशविशेषे भिन्नतया प्राप्तव्यं तथा चानित्यत्वापत्तिः स्वर्गादिवदित्यस्योत्तरमाह—प्रत्यगात्मतयेति । न देशपरिच्छिन्नं फलं किंतु मोहव्यवहितं तदपगमे प्रत्यग्रूपेणावस्थानमिति तद्रूपेण साक्षात्कारः संपद्यत इत्येवमर्थमुत्तरो ग्रन्थ आरभ्यत इत्यर्थः । तावच्छब्दः क्रमेणोत्तरोत्तरापेक्षया पूर्वपूर्वस्य स्थूलत्वज्ञापनपरः । इन्द्रियेभ्योऽर्थपरत्वे कारणत्वं संभावितहेतुमाह—यैरिति । आत्मप्रकाशनाय विषयज्ञानाय यैरर्थैरारब्धानि तानीन्द्रियाणि तेऽर्थाः परा इत्यन्वयः । केभ्य इत्याकाङ्क्षायां विषयकार्यभूतप्रकृतेन्द्रियेभ्य इत्याह—तेभ्य इति । त्रिधा परशब्दार्थं हिशब्दद्योतितमाह—सूक्ष्मा इत्यादिना । इन्द्रियानुस्यूतत्वात्ततः सूक्ष्मा महान्तश्च व्यापकाः । अत्र परस्परसमुच्चितं तत्वं) परत्वे विवक्षितमिति चशब्दद्वयम् । ननु विषयाणामनात्मत्वात्प्रत्यगात्मभूताश्चेति कथमिति चेद्यथा प्रत्यगवस्थाऽनपायिन्येवं विषया इन्द्रियेष्वनपायिन इति प्रत्यगात्मभूता इत्युच्यन्त इति भावः ।

**तेभ्योऽपीति** । इन्द्रियेभ्यः परत्वेनोक्तेभ्योऽपीत्यर्थः । ननु देहपरिच्छिन्नस्य मनसो न व्यापकत्वादिविषयान्प्रति सूक्ष्मत्वादिकमुपपद्यतेऽकारणत्वात्कारणस्य हि कार्यापेक्षयोक्तत्रितयरूपत्वं यथेन्द्रियापेक्षया विषयाणां तथा च मनसः कथं सूक्ष्मत्वादिकमित्याशङ्क्य मनस आरम्भकं भूतसूक्ष्मं मनःशब्दवाच्यमेकदेशेन मनोरूपेण परिणामिविषयान्प्रति भूताकारेण कारणमतो मनसः परत्वं विषयेभ्यो युज्यत इत्याह— **मनःशब्दवाच्यमित्यादिना** । बुद्धेर्मनसः सकाशात्परत्वे हेतुं वदन्वाक्यमवतारयति— **संकल्पेति** । तादृशस्य मनसोऽध्यवसायनियम्यत्वात्ततः परा बुद्धिरित्याह—**मनसोऽपीति** । अर्थेभ्यः परादपीत्यपेरर्थः । मनःकारणत्वाभावाद्बुद्धेः कथं परत्वमित्याशङ्क्य परशब्दार्थकथनपूर्वकं बुद्धिशब्दार्थमाह—**सूक्ष्मेत्यादिना** । आदिशब्देन बुद्धिवृत्त्यवान्तरविशेषा गृह्यन्ते । ननु मनस आरम्भकभूतसूक्ष्मं प्रति कथं बुद्ध्यारम्भकभूतसूक्ष्मस्य कारणता मानाभावाद्भेदाभावाच्च विज्ञानशक्तिमदन्तःकरणस्यापञ्चीकृतभूतसूक्ष्मसात्त्विकांशसमष्टितो विशेषेण जन्माङ्गीकारात्तदारम्भकाणामैकात्म्येन भेदाभावादिति चेदत्र न भूतसूक्ष्मशब्देनापञ्चीकृतानां ग्रहः किंतु पञ्चीकृतान्नरूपभूतसूक्ष्माणामिह ग्रहणं तेषामन्नमशितमित्यादिनाऽणिष्ठभागस्य प्रसिद्धेस्तस्य मनःशब्दवाच्यान्तःकरणोपचयहेतुत्वेनोपचितान्तःकरणकारणत्वादन्तःकरणस्य च निश्चयसंकल्पशक्तिद्वयशालित्वेन निश्चयशक्तिमत्त्वात्साध्यत्वादितरस्यैतदारम्भकभूतसूक्ष्मयोः कार्यकारणभावसंभवान्मनःशब्दवाच्याणिष्ठभागस्य कारणत्वसंभवात्परतत्त्वमुपपद्यते । तर्हि बुद्धिमनसोरेव ग्रहे संभवति भूतसूक्ष्मपर्यन्तधावनं किमर्थमिति चेत्तद्ग्रहस्य तदारम्भकभूतसूक्ष्माधीनत्वात्तावत्पर्यन्तधावनमिति भावः । अथवा नन्वर्थेभ्यो मनस आरम्भकं भूतसूक्ष्मं परं तस्माद्बुद्ध्यारम्भकं भूतसूक्ष्मं परमिति न युक्तं कार्यापेक्षया हि कारणमुपचितावयवं व्यापकमनपायस्वरूपं परं प्रसिद्धं यथा घटादेर्मृदादिः । न चेह भूतसूक्ष्माणां परस्पर[कार्य]कारणभावे मानमस्ति । सत्यम् । तथाऽपि विषयेन्द्रियव्यवहारस्य मनोधीनत्वात्ततो मनो व्यापकं कल्प्यतेऽस्मिन्प्रकरणे यद्यदधीनं तत्तस्मात्परमितरत्परमिति हि स्थितेः । ननु भाष्ये मनःशब्दवाच्यं भूतसूक्ष्मं परमिति कथमुक्तमिति चेत्केषांचिन्मन आत्मेति भ्रमस्तन्निरासाय मनसो भौतिकत्वेनानात्मत्वं वक्तुं भूतसूक्ष्ममित्युक्तमेवं बुद्धिस्थलेऽपि द्रष्टव्यम् । तस्य मनसोऽध्यवसायनियम्यत्वाद्बुद्धिः परा । भूतोपचयापचयाभ्यां मनसो भौतिकत्वेनानात्मत्वं बुद्धेः करणत्वेनानात्मत्वं द्रष्टव्यम् । ततोऽर्थादिषु भूतसंस्थानेष्वेव परत्वं कल्प्यते परमपुरुषार्थदिदर्शयिषया न त्वर्थादीनां परत्वं प्रतिपिपादयिषितं प्रयोजनाभावाद्वाक्यभेदप्रसङ्गाच्चेत्यपि द्रष्टव्यम् । आत्मशब्दस्य परशब्दार्थव्यापकत्वांशेन पौनरुक्त्यमाशङ्क्यापुनरुक्तमर्थमाह—**सर्वेति** । सुरनरतिर्यगादिबुद्धीनां विधारकत्वात्सातत्यगमनादात्मोच्यत इत्यर्थः । आत्ममहच्छब्दयोः पौनरुक्त्ये सर्वबुद्धिव्यापकताऽऽत्मशब्दार्थः । बुद्धितदितरव्यापकता महच्छ-

त्वार्थ इत्याह—सर्वेति । तत्र हेतुमाह—अव्यक्तादिति । हैरण्यगर्भं तत्त्वमिति । सूत्रसंज्ञितमित्यर्थः । बोधाबोधात्मकं ज्ञानक्रियाशक्त्यात्मकमित्यर्थः ॥ १० ॥

---

महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः । पुरुषान्न
परं किंचित्सा काष्ठा सा परा गतिः ॥ ११ ॥

महतोऽपि परं सूक्ष्मतरं प्रत्यगात्मभूतं सर्वमहत्तरं चाव्यक्तं सर्वस्य जगतो बीजभूतमव्याकृतनामरूपसतत्त्वं सर्वकार्यकारणशक्तिसमाहाररूपमव्यक्ताव्याकृताकाशादिनामवाच्यं परमात्मन्योतप्रोतभावेन समाश्रितं वटकणिकायामिव वटवृक्षशक्तिः । तस्मादव्यक्तात्परः सूक्ष्मतरः सर्वकारणकारणत्वात्प्रत्यगात्मत्वाच्च महांश्च । अत एव पुरुषः सर्वपूरणात् । ततोऽन्यस्य परस्य प्रसङ्गं निवारयन्नाह—पुरुषान्न परं किंचिदिति । यस्मान्नास्ति पुरुषाच्चिन्मात्रघनात्परं किंचिदपि वस्त्वन्तरं तस्मात्सूक्ष्मत्वमहत्त्वप्रत्यगात्मत्वानां सा काष्ठा निष्ठा पर्यवसानम् । अत्र हीन्द्रियेभ्य आरभ्य सूक्ष्मत्वादिपरिसमाप्तिः । अत एव च गन्तॄणां सर्वगतिमतां संसारिणां परा प्रकृष्टा गतिः । यद्गत्वा न निवर्तन्त इति स्मृतेः ॥ ११ ॥

---

आ० टी०—प्रलये सर्वकार्यकारणशक्तीनामवस्थानमभ्युपगन्तव्यं शब्दार्थसंबन्धशक्तिलक्षणस्य नित्यत्वनिर्वाहाय । तासां शक्तीनां समाहारो मायातत्त्वं भवति ब्रह्मणोऽसङ्गत्वादिति शक्तिसमाहाररूपमव्यक्तमित्यर्थः । ‘ तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीदेतस्मिन्खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च ’ ‘ मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनं तु महेश्वरम् ’ इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धं चाव्यक्तम् । तस्य सांख्याभिमतप्रधानाद्वैलक्षण्यमाह—परमात्मनीति । शक्तित्वेनाद्वितीयत्वाविरोधित्वमाह—वटकणिकायामिवेति । भाविवटवृक्षशक्तिमद्वटबीजं स्वशक्त्या न सद्द्वि[द्वि]तीयं कथ्यते तद्वद्ब्रह्मापि न मायाशक्त्या सद्द्वि[द्वि]तीयम् । सत्त्वादिरूपेण निरूप्यमाणे व्यक्तिरस्य नास्तीत्यव्यक्तम् । ततोऽव्यक्तशब्दादप्यद्वैताविरोधित्वं द्रष्टव्यम् । सर्वस्य प्रपञ्चस्य कारणमव्यक्तम् । तस्य परमात्मपरतन्त्रत्वात्परमात्मन उपचारेण कारणत्वमुच्यते न त्वव्यक्तवद्विकारितयाऽनादित्वादव्यक्तस्य पारतन्त्र्यं च पृथक्सत्त्वे प्रमाणाभावादात्मसत्तयैव सत्तावत्त्वाच्चेत्यर्थः ॥ ११ ॥

---

गो० टी०—परमव्यक्तमित्यन्वयः । हिरण्यगर्भतत्त्वमेव सूक्ष्ममतिशयेन सूक्ष्मं सूक्ष्मतरमव्यक्तं प्रत्यग्वदनपायि सर्वस्माद्व्यापकमित्यर्थः । हिरण्यगर्भाद्वैलक्षण्यमाह—सर्वेति ।

---

१ ङ. ञ. ट. °अव्य° । २ क. ख. ज. °तमः स° । ३ घ. °णत्वा° । ४ घ. °स्य प्र° । ५ ङ. ढ. °न्मात्राच्चिदघना° । ६ ङ. ट. °मासम् । अं° । ७ घ. °व ग° । ८ क. ख. ज. °णां सा प° ।

आरम्भवादं निराकरोति—अव्याकृतेति । अव्याकृतयोर्नामरूपयोः सतत्त्वं स्वरूपमित्यर्थः । ननु सृष्टेः प्रागव्याकृतव्यतिरेकेणाभावात्कथं सर्वेषां कार्याणां कारणानां च शक्तिसमुदायरूपमव्यक्तमिति चेत्प्रलये सर्वशक्तीनामवस्थानं वक्तव्यं शब्दार्थसंबन्धस्य शाकलक्षणस्य निर्वाहाय तासां च शक्तीनां मायातत्त्वे समाहारो भवति ब्रह्मणोऽसङ्गत्वादिति समुदायरूपमव्यक्तमित्यर्थः । तत्र प्रमाणमाह—अव्याकृतेति । 'तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीदेतस्मिन्खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्च प्रोतश्च' 'मायां तु प्रकृतिं विद्यात्' इत्यादिश्रुतिप्रसिद्धमित्यर्थः । सांख्याभिमतप्रधानाद्वैलक्षण्यमाह—परमात्मनीति । ननु शक्तिरेकाऽऽत्मा चैक इति सद्वितीयत्वापत्तिरित्याशङ्क्याऽऽत्मव्यतिरेकेण तस्या असत्त्वं दृष्टान्तेनाऽऽह वटेति । वटबीज इत्यर्थः । यदर्थं पूर्वपूर्वापेक्षयोत्तरोत्तरस्य परत्वं प्रतिपादितं तद्दर्शनपदमवतारयति—तस्मादित्यादिना । पूर्वोक्तात् । नन्वात्मनः सूक्ष्मतरत्वं वक्तुं शक्यतेऽव्यक्तादपि दुर्विज्ञेयत्वात्कारणस्वरूपपरत्वं कथं कारणत्वे वाऽव्यक्तवद्विकारित्वेनासत्त्वापत्तेरिति चेदधिष्ठानपरतन्त्रत्वादारोपस्याधिष्ठानस्योपचारेणाऽऽत्मनः कारणत्वमुच्यत इति न दोषः । पारतन्त्र्यं चाव्यक्तस्य पृथक्सत्त्वे प्रमाणाभावादात्मसत्तयैव सत्तावत्त्वाच्चेति भावः । प्रत्यगात्मेति । पूर्वत्र सापेक्षप्रत्यक्त्वमत्र तु स्वाभाविकमेव दिदर्शयिषितं वस्तुत्वादिति भावः । अत एव निरतिशयमहत्त्वादेवेत्यर्थोऽवध्रियत इत्याह—तत इति । प्रसक्तं सत्त्वस्येति शेषः । पुरुषात्परं किंचिन्नेत्यर्थं हेतूकृत्य सेत्यादिवाक्यं व्याचष्टे—यस्मान्नास्तीत्यादिना । पर्यवसानमुपपादयति—अत्र हीति । आत्मनीत्यर्थः । अत एव सूक्ष्मत्वादिपर्यवसानभूमित्वादेव । प्रकृष्टगतित्वे प्रमाणमाह—यदिति । तद्धाम परमं ममेति वाक्यशेषः ॥ ११ ॥

---

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽऽत्मा न प्रकाशते । दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः ॥ १२ ॥

ननु गतिश्चेदागत्याऽपि भवितव्यं कथं यस्माद्भूयो न जायत इति । नैष दोषः । सर्वस्य प्रत्यगात्मत्वादवगतिरेव गतिरित्युपचर्यते । प्रत्यगात्मत्वं च दर्शितमिन्द्रियमनोबुद्धिपरत्वेन । यो हि गन्ता सोऽगतमप्रत्यग्रूपं[3] गच्छत्यनात्मभूतं न विपर्ययेण । तथा च श्रुतिः—"अनध्वगा अध्वसु पारयिष्णवः" इत्याद्या । तथा च दर्शयति प्रत्यगात्मत्वं सर्वस्य । एष पुरुषः सर्वेषु ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तेषु भूतेषु गूढः संवृतो दर्शनश्रवणादिकर्माऽविद्यामायाछन्नोऽत एवाऽऽत्मा न प्रकाशत आत्मत्वेन कस्यचित् । अहो अतिगम्भीरा दुरवगाह्या

---

१ ठ. सूक्ष्मतमत्वं । २ क. ख. ज. सोऽयम° । ३ झ. ञ. ट. °पं पररूपं ग° । ४ क. झ. ञ. ट. °रमीप्सवः " इ° । ५ क. °छन्न आ° ।

विचित्रा माया चेयं यदयं सर्वो जन्तुः परमार्थतः परमार्थसतत्त्वोऽप्येवं बोध्यमानोऽहं परमात्मेति न गृह्णात्यनात्मानं देहेन्द्रियादिसंघातमात्मनो दृश्यमानमपि घटादिवदात्मत्वेनाहममुष्य पुत्र इत्यनुच्यमानोऽपि गृह्णाति नूनं परस्यैव मायया मोमुह्यमानः सर्वो लोको बंभ्रमीति । तथा च स्मरणम्—" नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः " इत्यादि । ननु विरुद्धमिदमुच्यते मत्वा धीरो न शोचति न प्रकाशत इति च । नैतदेवम् । असंस्कृतबुद्धेरविज्ञेयत्वान्न प्रकाशत इत्युक्तम् । दृश्यते तु संस्कृतयाऽग्र्याऽग्रमिवाग्र्या तयैकाग्रतयोपेतयेत्येतत्सूक्ष्मया सूक्ष्मवस्तुनिरूपणपरया । कैः । सूक्ष्मदर्शिभिरिन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था इत्यादिप्रकारेण सूक्ष्मतापारम्पर्यदर्शनेन परं सूक्ष्मं द्रष्टुं शीलं येषां ते सूक्ष्मदर्शिनस्तैः सूक्ष्मदर्शिभिः पण्डितैरित्येतत् ॥ १२ ॥

---

आ० टी०—पारयिष्णव इति । संसारपारं गन्तार इत्यर्थः । न प्रकाशते चेत्तर्हि नास्त्येवेति न वाच्यं लिङ्गदर्शनादित्याह । दर्शनश्रवणादीनि कर्माण्यस्येति तथोक्तः । जीवस्य प्रकाशत्वे ब्रह्मात्मत्वे सत्यपि योऽयं ब्रह्मस्वरूपानवभासः स केनापि प्रतिबन्धेन कृत इति कल्प्यते । तच्च प्रतिबन्धकं न वस्तु ज्ञानान्मुक्तिश्रुतेर्बाधप्रसङ्गात् । ततोऽविद्यैव प्रतिबन्धिकेत्याह—अविद्यामायाच्छन्न इति । निदिध्यासनप्रचयेनैकाग्र्यमापन्नमन्तःकरणं यदा सहकारि संपद्यते तदा तत्सहकृतान्महावाक्यादहं ब्रह्मास्मीति या बुद्धिवृत्तिरुत्पद्यते तस्यामभिव्यक्तो ब्रह्मभाव इति स्वतोऽपरोक्षतया व्यवाह्रियत इति दृश्यत्वमुपचर्यते । यो हि यत्प्रयुक्तव्यवहारः स तद्दृश्य इति प्रसिद्धम् ॥ १२ ॥

---

गो० टी०—गतिशब्दस्य यथाश्रुतमर्थं गृहीत्वा शङ्कते—नन्विति । परिहरति—नैष दोष इति । प्रत्यग्भिन्नस्य हि गत्याऽवाप्तिर्मुख्या तस्य तूपचारेणेत्यत्र पूर्वोक्तं हेतुमाह—प्रत्यगात्मत्वं चेति । तर्हि प्रतीचः प्राप्तत्वेन ज्ञानादिवैयर्थ्यमित्याशङ्क्याविद्ययाऽनात्मरूपमापन्नो यः सोऽधिकारी तं प्रत्यगात्मानमनात्मव्युदासेन प्राप्नोतीत्याह—यो हीति । हिशब्दसूचितां श्रुतिमाह—तथा चेति । अनध्वगा मार्गरहिताः । पारयिष्णवः संसारपारं गन्तार इत्यर्थः । गतेरौपचारिकत्वे सर्वस्य प्रत्यगात्मत्वं श्रुतिर्दर्शयतीत्यवतारयति—तथा चेति । संवृतो न प्रकाशत इत्यन्वयः । न प्रकाशते चेत्तर्हि नास्त्येवेति न वाच्यं लिङ्गदर्शनादित्याह—दर्शनेति । दर्शनश्रवणादीनि कर्माण्यस्येति तथा । ननु जीवस्य प्रकाशे ब्रह्मात्मत्वे कुतोऽनवभासस्त-

---

१ ग. °ह्णाति नूनं । २ क. ख. ज. °कोऽयं बं° । ३ ख. ज. °रति ना° । ४ क. °द्धमित्युच्य° । ५ झ. ञ. ट. °ते त्वग्र्यया संस्कृतयाऽग्र्य° । ६ झ. ञ. ट. °ण सर्वविशेषसू° ।

आऽऽह—अविद्यामायाच्छन्न इति । अविद्येति ज्ञाननिरस्यत्वमुच्यते । मायेति मिथ्यात्वमुच्यते । अत एव यतश्छन्नः कस्यचिदप्यात्माऽऽत्मत्वेन न प्रकाशतेऽहं पर एवेति व्यवहारयोग्यो न भवतीत्यर्थः । एष इत्यादिश्रुतेरक्षरार्थमुक्त्वा प्राणिष्वनुकम्पां दर्शयञ्छ्रुतेस्तात्पर्यार्थमाह—* अत इति । यतः स्वप्रकाशप्रत्यक्चैतन्यावरिकाऽविद्याऽतोऽतिगम्भीरा नक्रादिसंवलितगङ्गाह्रद इवाविमर्शनीयस्वरूपा यत एवमतो दुरवगाह्या मायायां स्थित्वा मायाकृता विभूतिरियतीति निर्धारयितुं न शक्यते केनचिदतः ८ । एवंभूतमायायाः सविलासकत्वं प्रदर्श्य स्वरूपावरकत्वे हेतुमाह—विचित्रा चेति । इयमहमज्ञ इत्यनुभवसिद्धा नानाशक्तियुक्ताऽघटनपटनापटीयसी । तत्र हेतुमाह—यदिति । यस्मादित्यर्थः । अयं संसरन्दृश्यमानः सर्वप्राणी वस्तुतः परमार्थस्वरूपेणाप्येवं बोध्यमानः पर एवाऽऽत्मा नास्ति संसारीत्यहं पर एवाऽऽत्मेति न गृह्णाति, घटादिवदात्मनो दृश्यमानमपि देहेन्द्रियादिसंघातमनात्मानं त्वं देवदत्तपुत्रो विष्णुमित्र इत्यनुच्यमानोऽप्यनुपदिश्यमानोऽप्यहममुष्य पुत्र इत्यात्मत्वेन गृह्णातीत्यन्वयः । स्वस्वरूपमखण्डाद्वितीयमुच्यमानमपि न गृह्णातीत्यनुक्तमप्यनात्मस्वरूपमात्मत्वेन गृह्णातीत्यत्र को हेतुरिति विचार इदं निश्चितमित्याह—नूनमिति । मोमुह्यमानः पुनः पुनरतिशयेन वा मोहमापद्यमानो बंभ्रमीति पुनः पुनरतिशयेन भ्रमतीत्यर्थः । मायाधीनमोहादात्माप्रकाशे संसरणे च भगवतः स्मरणं प्रमाणयति—तथा चेति । योगमायासमावृत इति वाक्यशेषः । चोद्योत्तरवाक्यं व्याचष्टे—नन्वित्यादिना । एतद्विरुद्धत्वमेतं त्वदुक्तप्रकारेण न भवति श्रुत्योर्विषयभेदात् । न प्रकाशत इत्यस्यार्थं दर्शयति—असंस्कृतेति । निदिध्यासनप्रचयजन्यसंस्काररहिताया बुद्धेरित्यर्थः । मत्वा धीरो न शोचतीत्यस्याऽऽशयं श्रुतिः स्वयमेव दर्शयति—दृश्यते त्विति । संस्कृतया निदिध्यासनप्रचयजन्यसंस्कारयुक्तया । एकं ब्रह्मात्मैक्यमग्रं मुख्यं लक्ष्यं यस्यास्तस्या भाव एकाग्रता तया सहितयेत्येतत् सूक्ष्मं दुर्विज्ञेयं वस्तु ब्रह्मात्मैक्यं तस्य निरूपणे निश्चये तात्पर्यवत्या । कर्तृपदमाकाङ्क्षापूर्वकं व्याचष्टे—केरिति । सूक्ष्मदर्शिभिः पण्डितैः सूक्ष्मयाऽग्र्यया बुद्ध्याऽऽत्मा दृश्यत इति योजना ॥ १२ ॥

---

तत्प्रतिपत्त्युपायमाह—

**यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद्यच्छेज्ज्ञान आत्मनि । ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत्तद्यच्छेच्छान्त आत्मनि ॥ १३ ॥**

---

* भाष्येऽहो इत्यस्य स्थाने, अत इतिपाठानुरोधेनेदमिति भाति । एतदनुरोधेन तथा पाठो भाष्ये स्यादित्यनुमेयं भाष्यानुरोधेनात्र वा तथा पाठः कल्प्यः ।

यच्छेन्नियच्छेदुपसंहरेत्प्राज्ञो विवेकी । किम् । वाग्वाचम् । वागत्रोपलक्षणार्था सर्वेषामिन्द्रियाणाम् । क्व । मनसी मनसीति छान्दसं दैर्घ्यम् । तच्च मनो यच्छेज्ज्ञाने प्रकाशस्वरूपे बुद्धावात्मनि । बुद्धिर्हि मनआदिकरणान्याप्नोतीत्यात्मा प्रत्यक्तेषाम् । ज्ञानं बुद्धिमात्मनि महति प्रथमजे नियच्छेत् । प्रथमजवत्स्वच्छस्वभावकमात्मनो विज्ञानमापादयेदित्यर्थः । तं च महान्तमात्मानं यच्छेच्छान्ते सर्वविशेषप्रत्यस्तमितरूपेऽविक्रिये सर्वान्तरे सर्वबुद्धिप्रत्ययसाक्षिणि मुख्य आत्मनि ॥ १३ ॥

आ० टी०—॥ १३ ॥

गो० टी०—ब्रह्मज्ञानसाधनत्वेनोत्तरं वाक्यं व्याचष्टे–तदिति । तस्याऽऽत्मनः प्राप्तिस्तत्साधनीभूतं ज्ञानं तदुपायमित्यर्थः । ननूपसंहारेऽपि वाच इतरेन्द्रियाणां सव्यापाराणामनुपसंहारे तन्मात्रं न ज्ञानसाधनमित्याशङ्क्याऽऽह—वागत्रोपलक्षणार्थेति । आकाङ्क्षापूर्वकमधिकरणं निर्दिशति—क्वेति । दैर्घ्यस्य गतिमाह—मनसीतीति । संकल्पविकल्पात्मकमनसो बुद्धितन्त्रत्वात्तस्य तस्यां लयस्य कर्तव्यतया प्रकाशसामान्यं ज्ञानशब्देन मनआदिकरणव्याप्त्या तेषां प्रत्यगात्मा बुद्धिस्तच्छब्देनोच्यत इत्याह—ज्ञान इत्यादिना । हि यस्मादर्थे । नन्वात्ममहच्छब्दाभ्यां व्यापकप्रत्यगात्मनोऽभिधानात्कथं प्रथमजे हिरण्यगर्भे बुद्धौ व्यष्टिबुद्धेः प्रविलापनमित्याशङ्क्य तदुत्तरपर्याये शान्त आत्मेति विशेषणात्प्रत्यस्तमितसर्वविशेषणवत्येतस्य लयप्रतिपादनात्तस्य ग्रहणं न विरुध्यते । न च व्यष्टिबुद्धेः समष्टौ लयश्चेत्तस्याः परमकारणे लयो वाच्यस्तद्विना ? निर्विशेषे लयः कथमिति वाच्यम् , आत्ममहच्छब्दाभ्यां सकारणसमूत्रहैरण्यगर्भबुद्धेर्ग्रहणान्न दोष इति भावः । समष्टिव्यष्ट्योः साम्ये लयनिमित्तमाह—स्वच्छेति । स्वच्छस्वभावकं प्रथमजं विज्ञानं प्रत्यगात्मोपाधिभूतविज्ञानमापादयेदित्यर्थः । सर्वेति । सर्वे विशेषाः प्रत्यस्तमिता लीना यस्मिंस्तत्तच्च तद्रूपं च तस्मिन् । तत्र हेतुः—अविक्रिय इति । एवमुत्तरोत्तरं हेतुत्वेन व्याख्येयम् । मुख्य आत्मनि तं यच्छेदित्यन्वयः ॥ १३ ॥

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत । क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्गं पथस्तत्कवयो वदन्ति ॥ १४ ॥

१ क. ख. ञ. सर्वेन्द्रि॰ । २ झ. ञ ट. क्व । मनसि । ज्ञा॰ । ३ क. ख. ग. घ. ङ. च. ज. ठ. ॰नसि । छन्द॰ । ४ झ. ञ. ट. दीर्घम् । ५ ख. ग. घ. ङ. च. ॰आदीनि क॰ । ६ क. ख. ज. ॰त्मा तेषां प्रत्यक् । ज्ञा॰ । ७ झ. ञ. ट. ॰जत्वात्स्व॰ । ८ क. ख. ज. ॰वमा॰ । ९ ङ. ञ. ट. ॰तस्वरू॰ ।

एवं पुरुष आत्मनि सर्वं प्रविलाप्य नामरूपकर्मत्रयं यन्मिथ्याज्ञानविजृम्भितं क्रियाकारकफललक्षणं स्वात्मयाथात्म्यज्ञानेन मरीच्युदकरज्जुसर्पगगनमलानीव मरीचिरज्जुगगनस्वरूपदर्शनेनैव स्वस्थः प्रशान्तात्मा कृतकृत्यो भवति यतोऽतस्तद्दर्शनार्थमनाद्यविद्याप्रसुप्ता उत्तिष्ठत हे जन्तव आत्मज्ञानाभिमुखा भवत, जाग्रताज्ञाननिद्राया घोररूपायाः सर्वानर्थबीजभूतायाः क्षयं कुरुत । कथम् । प्राप्योपगम्य वरान्प्रकृष्टानाचार्यास्तद्विदस्तदुपदिष्टं सर्वान्तरमात्मानमहमस्मीति निबोधतावगच्छत । न ह्युपेक्षितव्यमिति श्रुतिरनुकम्पयाऽऽह मातृवत् । अतिसूक्ष्मबुद्धिविषयत्वाज्ज्ञेयस्य किमिव सूक्ष्मबुद्धिरित्युच्यते । क्षुरस्य धाराऽग्रं निशिता तीक्ष्णीकृता दुरत्यया दुःखेनात्ययो यस्याः सा दुरत्यया । यथा सा पद्भ्यां दुर्गमनीया तथा दुर्गं दुःसंपाद्यमित्येतत्पथः पन्थानं तत्त्वज्ञानलक्षणं मार्गं कवयो मेधाविनो वदन्ति । ज्ञेयस्यातिसूक्ष्मत्वात्तद्विषयस्य ज्ञानमार्गस्य दुःसंपाद्यत्वं वदन्तीत्यभिप्रायः ॥ १४ ॥

---

आ० टी०—क्रमेणैवं विषयदोषदर्शनेनाभ्यासेन च बाह्यकरणान्तःकरणव्यापारप्रविलापने सति प्रविलापनं कर्तुः कः पुरुषार्थः सिध्यतीत्यत आह—**एवं पुरुष इत्यादिना** ॥ १४ ॥

---

गो० टी०—विषयदोषदर्शनेन बाह्यान्तःकरणव्यापारप्रविलापने तत्कर्तृकः कः पुरुषार्थः सेत्स्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—**एवं पुरुष इत्यादिना** । एवं यच्छेदित्यादिक्रमेण प्रत्यगात्मस्वरूपसाक्षात्कारेण समस्तं प्रकर्षेण विलाप्य कृतकृत्यो भवतीत्यन्वयः । आत्मव्यावृत्त्यर्थं सर्वं विशिनष्टि—**नामेति** । शब्दार्थक्रियात्रयमित्यर्थः । तस्य सत्यत्वं व्यावर्तयति—**यदिति** । मिथ्या च तदज्ञानं च मिथ्याज्ञानं तेन विजृम्भितं निष्पादितं यत्तत्सर्वमित्यन्वयः । ज्ञानफलं न कर्मसाध्यमिति ज्ञापयितुं कर्मफलं संसारान्तर्गतमेवेति दर्शयति— **क्रियेति** । सम्यग्ज्ञानेन सर्वविलापने कृतकृत्यतेत्यत्र दृष्टान्तमाह—**मरीचीति** । मरीच्यादिदर्शनेन तदुदकादि प्रविलाप्य लौकिकः पुमान्यथा स्वस्थस्तथा स्वस्थः सर्वबाह्येन्द्रियव्यापाररहितः प्रशान्त आत्माऽन्तःकरणं यस्य सर्वमनोव्यापाररहितः प्रशान्तात्मा कर्तव्याभावात्कृतकृत्यो भवतीत्यर्थः । उक्तमर्थं हेतूकृत्योत्तरं वाक्यमवतारयति—**यतोऽत इति** । तद्दर्शनार्थं कृतकृत्यताहेतुदर्शनार्थम् । अनाद्यविद्यायां प्रसुप्तास्तत्तन्त्राः । **आत्मज्ञानाभिमुखा इति** । ईश्वरार्पितकर्मतश्चित्त-

---

१ झ. ञ. ट. °नेनेव । २ क. ख. ग. घ. ङ. च. ज. ट. °शान्तः कृत° । ३ घ. °नप्रायाः सु° । ४ घ. च. °स्तत्त्वविद° । ५ घ. ज. झ. ञ. °वादाति । अ° । ६ क. ख. ज. °त्वाद्विज्ञेय° । ७ ङ. च. दुःखसं° ।

शुद्धि विविदिषाक्रमेण श्रवणादिपरा इत्यर्थः । घोरो दुःखबहुलः संसारदावो रूपं यस्याः सा । तस्या घोररूपत्वं विवृणोति—सर्वेति । क्षयं कुरुत साक्षात्कारेणेति शेषः । तत्साक्षात्कार आचार्याधीन इत्याकाङ्क्षापूर्वकं दर्शयति—कथमित्यादिना । तेषां वरत्वं व्याचष्टे—तद्विद इति । निबोधतेत्यस्यापेक्षितं कर्म पूरयति—तदित्यादिना । अक्षरार्थमुक्त्वा तात्पर्यार्थमाह—न हीति । तदुपेक्षणेऽनर्थप्राप्तिसूचको हिशब्दः । इतिर्वक्ष्यमाणप्रकारार्थः । आदरेण श्रुत्यभिधाने हेतुः—अतिसूक्ष्मेति । आकाङ्क्षापूर्वकमुत्तरवाक्यं व्याचष्टे—किमिवेति । तीक्ष्णीकृता पाषाणादाविति शेषः । पदार्थमुक्त्वा विवक्षितं वाक्यार्थमाह—यथेति । छान्दसत्वाद्वचनव्यत्यय इत्याह-पन्थानमिति । ननु वस्तुनः सुज्ञेयत्वे ज्ञानस्यापि तथात्वाद्दुर्गमत्वमसिद्धमित्याशङ्क्य कवयो वदन्तीत्यस्य तात्पर्यार्थमाह—ज्ञेयस्येति ॥ १४ ॥

तत्कथमतिसूक्ष्मत्वं ज्ञेयस्येत्युच्यते । स्थूला तावदियं मेदिनी शब्दस्पर्शरूपरसगन्धोपचिता सर्वेन्द्रियविषयभूता तथा शरीरम् । तत्रैकैकगुणापकर्षेण गन्धादीनां सूक्ष्मत्वमहत्त्वविशुद्धत्वनित्यत्वादितारतम्यं दृष्टमबादिषु यावदाकाशमिति ते गन्धादयः सर्व एव स्थूलत्वाद्विकाराः शब्दान्ता यत्र न सन्ति किमु तस्य सूक्ष्मत्वादिनिरतिशयत्वं वक्तव्यमित्येतद्दर्शयति श्रुतिः—

**अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् । अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्युमुखात्प्रमुच्यते ॥ १५ ॥**

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत् । एतद्व्याख्यातं ब्रह्माव्ययम् । यद्धि शब्दादिमत्तद्व्येतीदं त्वशब्दादिमत्त्वादव्ययं न व्येति न क्षीयते, अत एव च नित्यं यद्धि व्येति तदनित्यमिदं तु न व्येत्यतो नित्यम् । इतश्च नित्यमनाद्यविमानं आदिः कारणमस्य तदिदमनादि । यद्ध्यादिमत्तत्कार्यत्वादनित्यं कारणे प्रलीयते यथा पृथिव्यादि । इदं तु सर्वकारणत्वादकार्यमकार्यत्वान्नित्यं न तस्य कारणमस्ति यस्मिन्प्रलीयते । तथाऽनन्तमविद्यमानोऽन्तः कार्यमस्य तदनन्तम् । यथा कदल्यादेः फलादिकार्योत्पादनेनाप्यनित्यत्वं

१ घ. °थमिति सू° । २ ग. घ. च. °व नि° । ३ झ. ञ. ट. °नमादि का° । ४ ग. च. रणं यस्य । ५ क. ख. क. ज. ठ. यच्चाऽऽदि° । ग. घ. यद्यच्चाऽऽदि° । ६ क. ख. °नन्तं नित्यम° ।

दृष्टं न च तथाऽत्यन्तवत्त्वं ब्रह्मणोऽतोऽपि नित्यम्। महतो महत्तत्त्वा-द्बुद्ध्याख्यात्परं विलक्षणं नित्यविज्ञप्तिस्वरूपत्वात्सर्वसाक्षि हि सर्वभूतात्मत्वाद्ब्रह्म। उक्तं ह्येष सर्वेषु भूतेष्वित्यादि। ध्रुवं च कूटस्थं नित्यं न पृथिव्यादिवदापेक्षिकं नित्यत्वम्। तदेवंभूतं ब्रह्मात्मानं निचाय्याऽवगम्य तमात्मानं मृत्युमुखान्मृत्युगोचरादविद्याकामकर्मलक्षणात्प्रमुच्यते विमुच्यते ॥ १५ ॥

आ० टी०—यावद्यावद्गुणापचयस्तावत्तावत्तारतम्येन सौक्ष्म्यं दृष्टं पृथिव्यादिषु परमात्मनि तु गुणानामत्यन्ताभावान्निरतिशयं सौक्ष्म्यं दृष्टं सिध्यतीत्याह—स्थूला ताव-दित्यादिना ॥ १५ ॥

गो० टी०—तदेवासिद्धमित्याशङ्कते—कथमिति। स्थूलसूक्ष्मतारतम्यविश्रान्ति-स्थानत्वादतिसूक्ष्मं ज्ञेयं ब्रह्मेत्याह—उच्यत इति। यावद्यावद्गुणापचयस्तावत्तावत्तार-तम्येन सौक्ष्म्यं पृथिव्यादिषु दृष्टं परमात्मनि गुणानामत्यन्तमभावान्निरतिशयं सौक्ष्म्यं सिध्यतीति पृथिव्यादिषु तारतम्येन सौक्ष्म्यमुपपादयति—स्थूलेत्यादिना। शब्दादि-रूपेण वृद्धौ हेतुमाह—सर्वेति। पृथिव्युक्तं न्यायं पार्थिवे शरीरेऽतिदिशति—तथेति। तत्र पृथिवीतच्छरीरयोरपकर्षेऽ(र्षोऽ)पगमेऽ(मोऽ)बादिषु सूक्ष्मत्वादितार-तम्यं दृष्टमित्यन्वयः। तारतम्यदृष्टाववधिमाह—यावदाकाशमिति। यावच्छब्दोऽ-भिव्याप्तौ। आत्मनो निरतिशयं सूक्ष्मत्वादि कैमुतिकन्यायेनोपपादयति—त इति। ते गन्धादयः शब्दान्ताः * स्थूलत्वादिकारणाः स्थूलत्वसूक्ष्मतरत्वसूक्ष्मतमत्वादिका-रणा ज्ञापकाः सर्वे एव यत्र न सन्ति प्रतीचि तस्य सूक्ष्मत्वादेर्निरतिशयत्वं किमु वक्त-व्यमित्यन्वयः। उक्तेऽर्थे श्रुतिं योजयति-इत्येतदिति। शब्दादिराहित्यमव्ययत्वेऽ-व्ययत्वं नित्यत्वे हेतुरिति पाठक्रमविवक्षित्वाऽऽह—यद्धीति। नित्यत्वे हेत्वन्तर-माह—इतश्चेति। उक्तमर्थमुपपादयति—यद्धीति। नन्वात्मनोऽपि लयोऽस्ति कार-णसंसर्गलक्षण इत्याशङ्क्य न तस्य कार्यं क(का)रणं च विद्यत इति श्रुत्यन्तरान्न कारणे लय इत्याह—न तस्येति। स्वतो लयाभावेऽपि कार्यद्वारा लयमाशङ्क्याऽऽह—तथेति। कार्यद्वारा नाशे दृष्टान्तमाह—यथेति। फलितं दर्शयति—अतोऽपीति। विलक्षणत्वे हेतुमाह—नित्येति। तच्च नास्तीति वक्तुं न शक्यत इत्याह-सर्वभू-तेति। न ह्यात्मनः प्रतिषेधः संभवतीति भावः। ब्रह्मनिरतिशयमहदित्यर्थः। उक्तेऽ-

* भाष्ये स्थूलत्वाद्विकारा इत्यत्र स्थूलत्वाद्विकारणा इति पाठानुरोधेनेदम्। भाष्य एतदनुरोधी पाठः कल्पनीयः।

१ ग. घ. च. °ज्ञप्तिरू°। २ ङ. ञ. °साक्षी हि। ३ च. ट. °क्षि स°। ४ ङ. ञ. ट. °चाय्य दृष्ट्वाऽव°।

र्थे श्रुतिं प्रमाणयति—उक्तं हीति । तच्च न पृथिव्यादिवत्परिणामि नित्यमित्य
ध्रुवमिति । एवं ब्रह्मात्मनोऽतिसूक्ष्मत्वेन दुर्विज्ञेयत्वात्तज्ज्ञानस्यापि दुःसंपाद्यताम्
ब्रह्मात्मज्ञानं सफलमुपसंहरति—तमित्यादिना ॥ १९ ॥

प्रस्तुतविज्ञानस्तुत्यर्थमाह श्रुतिः—

नाचिकेतमुपाख्यानं मृत्युप्रोक्तं सनातनम् ।
उक्त्वा श्रुत्वा च मेधावी ब्रह्मलोके महीयते ॥ १६

नाचिकेतं नचिकेतसा प्राप्तं नाचिकेतं मृत्युना प्रोक्तं मृत्युप्रोक्तं
इदमाख्यानमुपाख्यानं वल्लीत्रयलक्षणं सनातनं चिरंतनं वैदिकत्वादुक्त
ब्राह्मणेभ्यः श्रुत्वाऽऽचार्येभ्यो मेधावी ब्रह्मैव लोको ब्रह्मलोकस्तस्मि
न्महीयत आत्मभूत उपास्यो भवतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

---

आ० टी०—॥ १६ ॥

---

गो० टी०—ननु विज्ञानस्य सफलस्योक्तत्वादुत्तरग्रन्थः किमित्याह—
तेति । प्रकृतब्रह्मात्मविज्ञानसाधनस्तुत्यर्थमाख्यायिकामाह श्रुतिरित्यर्थः । चिरं
हेतुमाह–वैदिकत्वादिति । षष्ठीसमासभ्रमं व्यावर्तयति–ब्रह्मैवेति । वाक्यार्थ
आत्मेति ॥ १६ ॥

य इमं परमं गुह्यं श्रावयेद्ब्रह्मसंसदि । प्रयतः
श्राद्धकाले वा तदानन्त्याय कल्पते तदान-
न्त्याय कल्पत इति ॥ १७ ॥

इति काठकोपनिषदि प्रथमाध्याये तृतीया वल्ली समाप्ता ॥

इति काठकोपनिषदि प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ॥ १ ॥

यः कश्चिदिमं ग्रन्थं परमं प्रकृष्टं गुह्यं गोप्यं श्रावयेद् ग्रन्थतोऽर्थत
ब्राह्मणानां संसदि ब्रह्मसंसदि प्रयतः शुचिर्भूत्वा श्राद्धकाले वा श्रा
येद्भुञ्जानानां तच्छ्राद्धमस्याऽऽनन्त्यायानन्तफलाय कल्पते संपद्यते
द्विर्वचनमध्यायपरिसमाप्त्यर्थम् ॥ १७ ॥

इति काठकोपनिषदि प्रथमाध्याये तृतीयवल्लीभाष्यं समाप्तम् ॥ ३

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-
श्रीमदाचार्यश्रीशंकरभगवतः कृतौ काठकोपनिषद्भाष्ये
प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ॥ १ ॥

---

१ च. 'दमु'। २ क. 'नम्, व'। ३ क. ख. ज. 'स्मिन्ब्रह्मलोके मही'। ४ ग. घ. 'श्राद्ध'। ५ क. ङ. च. 'मप्यान'। ६ ग. घ. ङ. 'ते समर्थ्यंते। ७ क. समर्थते। ८ घ. ङ. च. 'यस'।

आ० टी०—॥ १७ ॥

---

इति काठकोपनिषद्भाष्यटीकायां प्रथमाध्याये तृतीया वल्ली समाप्ता ॥ ३ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचिते काठकोपनिषद्भाष्यव्याख्याने प्रथमोऽध्यायः समाप्तः ॥ १ ॥

---

गो० टी०—प्रयत इत्युभयत्रान्वेति । अनन्तफलाय क्रमेणेति शेषः ॥ १७ ॥

इति प्रथमाध्याये तृतीया वल्ली समाप्ता ॥ ३ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्यश्रीमद्बालगोपालेन्द्रयतीश्वरविरचिते काठकोपनिषद्भाष्यविवरणे प्रथमाध्यायः समाप्तः ॥ १ ॥

## अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

एष सर्वेषु भूतेषु गूढोऽऽत्मा न प्रकाशते दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्येत्युक्तम् । कः पुनः प्रतिबन्धोऽग्र्याया बुद्धेर्येन [1][2]तदभावादात्मा न दृश्यत इति [3]तद्दर्शनकारणप्रदर्शनार्था वल्ल्यारभ्यते । विज्ञाते हि श्रेयःप्रतिबन्धकारणे तदपनयनाय यत्न आरब्धुं शक्यते नान्यथेति—

पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयंभूस्तस्मात्पराङ्पश्यति नान्तरात्मन् । कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥ १ ॥

पराञ्चि पराग्गच्छन्तीति खानि[4] तदुपलक्षितानि श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि खानीत्युच्यन्ते । तानि पराञ्च्येव शब्दादिविषयप्रकाशनाय प्रवर्तन्ते । यस्मादेवं×स्वाभाविकानि तानि व्यतृणद्धिंसितवान्हननं कृतवानित्यर्थः । कोऽसौ । स्वयंभूः[6] परमेश्वरः स्वयमेव स्वतन्त्रो भवति सर्वदा न परतन्त्र इति । तस्मात्पराङ्पराग्रूपाननात्मभूताञ्शब्दादीन्पश्यत्युपलभत[8] उपलब्धा नान्तरात्मन्[9]नान्तरात्मानमित्यर्थः । एवंस्वभावेऽपि सति लोकस्य कश्चिन्नद्याः [10]प्रतिस्रोतः प्रवर्तनमिव धीरो धीमान्विवेकी

---

× एवंस्वभावकानीति पाठो युक्तः । टीकायां तस्यैव गृहीतत्वात् ।

---

१ क. तद्भावा° । २ ङ. झ. ञ. ट. °दभिभवा° । ३ ख. ग. घ. ङ. च ज ठ. तदर्द्श° । ४ क. ख. ग. घ. ङ. च. ज. ठ. °निलोप° । ५ ङ. झ. ट. °वान् कोऽ° । ६ क. ख. °भूः, यः प° । ज. °भूः स्व° । ७ क. °रान्प्रत्यग्° । ८ घ. °त इत्युप° । ९ झ. ञ. ट. °न्नात्मन्° । १० क. ङ. °ति श्रोतः ।

प्रत्यगात्मानं प्रत्यक्चासावात्मा चेति प्रत्यगात्मा । प्रतीच्येवाऽऽत्म शब्दो रूढो लोके नान्यस्मिन् । व्युत्पत्तिपक्षेऽपि तत्रैवाऽऽत्मशब्दः वर्तते ।

यच्चाऽऽप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह ।
यच्चास्य संततो भावस्तस्मादात्मेति कीर्त्यते ॥

इत्यात्मशब्दव्युत्पत्तिस्मरणात् । तं प्रत्यगात्मानं स्वं स्वभावमैक्षद ऽयत्पश्यतीत्यर्थः । छन्दसि कालानियमात् । कथं पश्यतीत्युच्यते—आ वृत्तचक्षुरावृत्तं व्यावृत्तं चक्षुः श्रोत्रादिकमिन्द्रियजातमशेषविषयाद्यस्य आवृत्तचक्षुः । स एवं संस्कृतः प्रत्यगात्मानं पश्यति । न हि बाह्य षयालोचनपरत्वं प्रत्यगात्मेक्षणं चैकस्य संभवति । किमर्थं पुनरि महता प्रयासेन स्वभावप्रवृत्तिनिरोधं कृत्वा धीरः प्रत्यगात्मानं पश्यत त्युच्यते—अमृतत्वममरणधर्मत्वं नित्यस्वभावतामिच्छन्नात्मन इत्यर्थः ।

---

आ० टी०—अनादिरविद्याप्रतिबन्धः प्रागुक्तोऽधुनाऽऽगन्तुकप्रतिबन्धदर्शन स्तरवल्ल्यारम्भ इति संबन्धमाह—एष सर्वेष्वित्यादिना । यदीन्द्रियाण्यन्तर्मुख (णि) स्युस्तदा तान्यात्मनिष्ठतयाऽमृतत्वमीयुरत इन्द्रियाणि बहिर्मुखानि(णि) सृष्टा यत्तेषां हननमेव कृतमित्यर्थः । आप्लृ व्याप्ताविति धात्वर्थानुसारेण व्यापक अ शब्दार्थः । यद्यस्मादादत्ते संहरति स्वात्मन्येव सर्वमिति जगदुपादानं लभ्यते वि नत्तीत्यात्मेति व्युत्पत्त्या स्वर्वैतन्याभासेनोपलब्धृत्वमात्मशब्दार्थः । येन कार स्याऽऽत्मनः संततो निरन्तरो भावः कल्पित[स्त]स्याधिष्ठानसत्तामन्तरेण सत्ताभाव रज्ज्वामध्यस्ते सर्पे रज्ज्वाः सातत्यं तथा कल्पितं सर्वं येन स्वस्वरूपवत्स अ त्यर्थः ॥ १ ॥

---

गो० टी०—अनाद्यविद्याप्रतिबन्धः प्रागुक्तोऽधुनाऽऽगन्तुकप्रतिबन्धप्रकाशन स्तरवल्ल्यारम्भ इति संबन्धमाह—एष इति । इत्युक्तमनेन वाक्येनानाद्यविद्या बन्धस्वरूपमिति शेषः । कः पुनरिति । पुनः कीदृशोऽनाद्यविद्यया अन्यः बन्धः, यस्य प्रतिबन्धस्य कादाचित्कस्याभावादात्माऽग्र्यया बुद्ध्या दृश्यते स बन्धोऽग्र्याया बुद्धेः कः कीदृशः किंस्वरूपः किंकार्यक इत्यर्थः । इत्येवमाकाङ् तद्दर्शनेति—तद्दर्शनेति । कादाचित्कप्रतिबन्धस्य दर्शनं ज्ञानं तस्य कारणं निमित्तं तस्य प्रदर्शनायेत्यर्थः । कादाचित्कप्रतिबन्धश्चाभ्यास इति भावः। ननु प्र न्धकतन्निमित्तनिरूपणमनर्थकं निवर्तकोपदेशात्तन्निवृत्तेरित्याशङ्क्याऽऽह—विज्ञात

---

१ क. ग. ट. 'ते तदुक्तं य' । २ घ. कीर्तितः । ३ क. ख. ज. 'नं स्वस्व' । ४ ख य' । ५ क. ख. ज. 'क्षतीति ।

हि यस्मादध्यासनिमित्ते सम्यग्ज्ञाते निमित्तस्य निवृत्तये यत्न आस्थातुं शक्यत इत्यर्थः । नान्यथेत्यनन्तरं तस्मादध्यासनिमित्तनिरूपणमुचितमिति शेषः । अक्षराणि व्याचष्टे—**पराञ्चीत्यादिना** । खशब्दोपात्तश्रोत्रभेदशङ्कां वारयति—**वदिति** । खोपलक्षितानीत्यर्थः । खोपलक्षितानीत्यपि पाठः । तेषां पराक्त्वं विवृणोति—**तानीति** । पराञ्च्येव पराग्विषयप्रकाशनसमर्थान्येवेत्यर्थः । फलमाह—**शब्दादीति** । एवंस्वभावकानि पराग्विषयाभिमुख[स्व]स्वभावानि तानीन्द्रियाणि, हननं कृतवानिति कथम् । तेषां हननं नाशो नष्टानां च न विषयोपनयनद्वाराऽनर्थहेतुतेति चेद्यद्येवेन्द्रियाण्यन्तर्मुखानि(णि) स्युस्तदा तान्यात्मनिष्ठतयाऽमृतत्वसाधनानीत्यत इन्द्रियाणि बहिर्मुखानि(णि) सृष्टानीति यत्तत्तेषां हननमेव कृतमिति भावः । कर्तृपदमाकाङ्क्षापूर्वकं व्याचष्टे—**कोऽसाविति** । हिरण्यगर्भशङ्कां प्रकरणेन वारयति—**परमेश्वर इति** । स्वयं भवति प्रभवतीति योगवृत्तिमर्थं तस्मिन्दर्शयति—**स्वयमेवेति** । एवकारव्यावर्त्यं दर्शयति—**नेति** । **तस्मादिति** । यस्मात्खानि पराञ्चि व्यतृणत्तस्मादित्यर्थः । उपलब्धोऽलभत इन्द्रियैरिति शेषः । विभक्तिलोपश्छान्दस इत्याह—**नेत्यादिना** । नन्विन्द्रियाणां प्रत्यक्प्रावण्याभावादात्मदर्शनमेव न मुख्यमधिकार्यभावादित्याशङ्क्याऽऽह—**एवमिति** । अनात्मभूतशब्दादिविषयोपलब्धृस्वभावत्वेऽपीत्यर्थः । कश्चिदित्यधिकारिदौर्लभ्यं द्योतयति । यथा कश्चित्कार्तवीर्यादिर्नद्या नर्मदादिरूपायाः प्रतिस्रोतःप्रवर्तनं करोति, एवमनेकजन्मसंसिद्ध इन्द्रियप्रवृत्तिनद्याः प्रतिस्रोतःप्रवर्तनं कृत्वा गुरुमुपगतो विवेकी तत्त्वंपदार्थविवेकवान्प्रत्यगात्मानं स्वं स्वभावं पश्यतीति संबन्धः । प्रत्यगात्मपदं व्याचष्टे—**प्रत्यक्चेति** । नन्वात्मशब्दवाच्यः प्रत्यग्देहादिरपि भवतीत्याशङ्क्याऽऽह—**प्रतीच्येवेति** । अन्यस्मिन्देहादावात्मशब्दप्रयोगस्तु तादात्म्याभिमानादिति भावः । यौगिकी वृत्तिस्तत्रैवेत्याह—**व्युत्पत्तीति** । तत्रैव प्रत्यगात्मन्येव । आप्लृ व्याप्ताविति धात्वर्थानुगमादात्मा व्यापक इत्याह—**यच्चाऽऽप्नोतीति** । यच्छब्दाः सर्वे यस्मादर्थे द्रष्टव्याः । आदत्ते संहरति स्वात्मन्येव सर्वमिति लयाधिष्ठानमुच्यते । कार्यस्य च कारणे लय इत्यात्मनोऽनया व्युत्पत्त्योपादानकारणत्वं लभ्यते । इह लोके । विषयानत्तीत्यनेन भोगेनोपलब्धृत्वमात्मनो लभ्यते । अस्य जगतः संततो निरन्तरो भावः सत्ता येनाधिष्ठानसत्तातिरिक्तसत्ताशून्यत्वादारोपितस्य रजतस्येव तस्मादात्मेत्यधिष्ठानत्वं लभ्यते । नन्व-पश्यदिति भूतकालनिर्देशान्नाधुनातनानां दर्शनमित्याशङ्क्याऽऽह—**पश्यतीति** । कथं भूतलकारो वर्तमानार्थक इति तत्राऽऽह—**छन्दसीति** । दर्शनप्रकारमाकाङ्क्षापूर्वकं दर्शयति—**कथमित्यादिना** । चक्षुर्ग्रहणमुपलक्षणमित्याह—**श्रोत्रादिकमिति** । व्यावृत्तत्वं कस्मादित्याकाङ्क्षायामपेक्षितं पूरयति—**अमृतेति** । सोऽधिकारी, एवं संस्कृतो विषयेभ्य इन्द्रियनियमनसंस्कारसंस्कृतान्तःकरण इत्यर्थः । ननु बाह्येषु विष-

येषु शोभनाध्यात्मरूपालोचनपरस्यापि तत्त्वमसीति वाक्यादात्मेक्षणं सेत्स्यतीत्याशङ्क्याऽऽह—न हीति । ननु विषयालोचनपरस्यापरोक्षभ्रमनिवर्तकज्ञानानुदयेऽपि तन्नियमनसंस्कृतस्योत्पन्नमपि ज्ञानं व्यर्थमित्याशङ्कते—किमर्थं पुनरिति । परिहरति—उच्यत इति । अमरणधर्मत्वं मरणादिसंसाराभावोपलक्षितस्वरूपत्वमत एव नित्यस्वभावत्वमात्मन इच्छन्नित्यन्वयः ॥ १ ॥

पराचः कामाननुयन्ति बालास्ते मृत्योर्यन्ति विततस्य पाशाम्[1] । अथ धीरा अमृतत्वं विदित्वा ध्रुवमध्रुवेष्विह न प्रार्थयन्ते ॥ २ ॥

यत्तावत्स्वाभाविकं परागेवानात्मदर्शनं[3] तदात्मदर्शनस्य प्रतिबन्धकारणमविद्या[4] तत्प्रतिकूलत्वाद्या च पराक्ष्वेवाविद्योपप्रदर्शितेषु[5] दृष्टादृष्टेषु[6] भोगेषु तृष्णा ताभ्यामविद्यातृष्णाभ्यां प्रतिबद्धात्मदर्शनाः पराचो बहिर्गतानेव कामान्काम्यान्विषयाननुयन्ति अनुगच्छन्ति बाला अल्पप्रज्ञास्ते[7] तेन कारणेन मृत्योरविद्याकामकर्मसमुदायस्य यन्ति गच्छन्ति विततस्य विस्तीर्णस्य सर्वतो व्याप्तस्य पाशं पाश्यते[8] बध्यते येन तं पाशं देहेन्द्रियादिसंयोगवियोगलक्षणम् । अनवरतजन्ममरणजरारोगाद्यनेकानर्थव्रातं[9] प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः । यत एवमथ[10] तस्माद्धीरा विवेकिनः प्रत्यगात्मस्वरूपावस्थानलक्षणममृतत्वं[11] ध्रुवं विदित्वा । देवाद्यमृतत्वं[12] ह्यध्रुवमिदं तु प्रत्यगात्मस्वरूपावस्थानलक्षणं[13] न कर्मणा वर्धते नो कनीयानिति[14] ध्रुवम्[15] । तदेवंभूतं कूटस्थमविचाल्यममृतत्वं विदित्वाऽध्रुवेषु सर्वपदार्थेष्वनित्येषु[16] निर्धार्य ब्राह्मणा इह संसारेऽनर्थप्राये न प्रार्थयन्ते किंचिदपि प्रत्यगात्मदर्शनप्रतिकूलत्वात् । पुत्रवित्तलोकैषणाभ्यो व्युत्तिष्ठन्त्येवेत्यर्थः ॥ २ ॥

आ० टी०—॥ २ ॥

गो० टी०—पराचः कामानिति व्याख्यातुं भूमिकामारचयति—यदिति । स्वाभाविकं शास्त्रानपेक्षम् । परागेवेत्यस्य व्याख्याऽनात्मदर्शनमिति । प्रतिबन्धस्य दुर-

१ झ. °शङ्क्यते । २ छ. झ. ञ. ट. अतो धी° । ३ घ. °गेवाऽऽत्म° । ४ घ. ङ. झ. ञ. ट. °रणं त° । ५ ख. ङ. च. ज. °पद° । ६ घ. °दृष्टभो° । ७ च. झ. ञ. ट. °स्तेन । ८ झ. ञ. ठ. °श्यन्ते बध्यन्ते ये° । ९ क. ख. ग. घ. ङ. च. छ. ज. ञ. ट. ठ. °रतं ज° । १० घ. °मतस्तस्मा° । ११ ख. ङ. ज. झ. ञ. °त्मनः स्व° । १२ घ. ङ. °नम° । १३ क. ख. ज. °णं ध्रुवं न । १४ क. ख. च. ज. °तिश्रुतेः । त° । १५ घ. ध्रुवं श्रुतेः । त° । १६ क. °षु ब्रा° ।

दृष्टादेः कारणमनात्मदर्शनमित्यत्र हेतुमाह—प्रतिकूलत्वादिति । अविद्येति शेषः । तृष्णास्वरूपं दर्शयति—या चेति । पराक्षवेवेत्यस्य व्याख्या दृष्टेत्यादि । परावत्त्वे हेतुमाह—अविद्येति । भुञ्जन्त इति भोगास्तेषु । ताभ्यामनात्मदर्शनभोगेच्छारूपा-भ्याम् । प्रतिबद्धमात्मनः परात्मत्वेन दर्शनं येषां ते तथा । पराच इत्यस्य व्याख्या बहिरित्यादि । अल्पज्ञानात्मानुगमनं नामानात्मदर्शनतृष्णाप्रेरिताः सन्तः कामानां लब्धारो भवन्तीत्येतत् । तेन कारणेन विषयानुगमेन कारणेन । विततस्य मृत्योः पाशं यन्तीत्यन्वयः । मृत्युशब्दार्थमाह—अविद्येति । विततशब्दार्थमाह—विस्तीर्ण-स्येत्यादि । अवयवव्युत्पत्तिपूर्वकं पाशशब्दार्थमाह—पाश्यन्त इति । अर्थान्तरमाह—अनवरतेति । अनवरतेत्यादि तु पूर्वविशेषणं वा । अनर्थस्य व्रातो यस्मिन्निति विशेषणपक्षे विग्रहो भवति । यन्तीत्यस्यार्थमाह—प्रतीति । अथवा पदार्थमुक्त्वा वाक्यार्थमाह—अनवरतेति । एवमनात्मप्रवणस्य संसार उक्तप्रकारेण यत इत्यर्थः । प्रत्यक्स्वरूपावस्थानरूपं ध्रुवत्वमुपपादयति—देवादीति । प्रत्यक्स्वरूपममृतत्वं ध्रुवमित्यत्र श्रुतिमुदाहरति—नेति । अविचाल्यमकार्यमध्रुवेषु सर्वपदार्थेषु कूटस्थममृतत्वं निर्धार्येत्य-न्वयः । ब्राह्मणा ब्रह्मविदः, किंचिदपि न कामयन्त इत्यत्र हेतुमाह—प्रत्यगात्मेति । तात्पर्यार्थमाह—पुत्रेति ॥ २ ॥

---

यद्विज्ञानान्न किंचिदन्यत्प्रार्थयन्ते ब्राह्मणाः कथं तदधिगम इति । उच्यते—

**येन रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शांश्च मैथुनान् । एतेनैव विजानाति किमत्र परिशिष्यते । एतद्वै तत् ॥ ३ ॥**

येन विज्ञानस्वभावेनाऽऽत्मना रूपं रसं गन्धं शब्दान्स्पर्शांश्च मैथु-नान्मैथुननिमित्तान्सुखप्रत्ययान्विजानाति विस्पष्टं जानाति सर्वो लोकः । ननु नैवं प्रसिद्धिर्लोकस्याऽऽत्मना देहादिविलक्षणेनाहं विजानामीति । देहादिसंघातोऽहं विजानामीति तु सर्वो लोकोऽवगच्छति । ननु त्वेवम् । देहादिसंघातस्यापि शब्दादिस्वरूपत्वाविशेषाद्विज्ञेयत्वाविशे-षाच्च न युक्तं विज्ञातृत्वम् । यदि हि देहादिसंघातो रूपाद्यात्मकः सन्रूपादीन्विजानीयाद्बाह्या अपि रूपादयोऽन्योन्यं स्वं स्वं रूपं च

---

१ ख. ज. °म उ° । २ ग. घ. °नान्मिथु° । ३ छ. ज. नैव प्र° । ४ ख. ज. सर्वलो° । ५ क. घ. नन्वेव° । ६ क. ज. ट. °दि दे° । ७ ख. ज. °घातः स्वरूपतः स° । ८ क. ङ. °यात्तदा बाह्या । ९ घ. °न्यं स्वस्वरू° ।

विजानीयुः । न चैतदस्ति । तस्माद्देहादिलक्षणांश्च रूपादीनेतेनैव देहादिव्यतिरिक्तेनैव विज्ञानस्वभावेनाऽऽत्मना विजानाति लोकः । यथा येन लोहो दहति सोऽग्निरिति तद्वत् । आत्मनोऽविज्ञेयं किमत्रास्मिँल्लोके परिशिष्यते न किंचित्परिशिष्यते सर्वमेव त्वात्मना विज्ञेयम् । यस्याऽऽत्मनोऽविज्ञेयं न किंचित्परिशिष्यते स आत्मा सर्वज्ञः । एतद्वै तत् । किं तद्यन्नचिकेतसा पृष्टं देवादिभिरपि विचिकित्सितं धर्मादिभ्योऽन्यद्विष्णोः परमं पदं यस्मात्परं नास्ति तद्वा एतदधिगतमित्यर्थः ॥ ३ ॥

अ० टी०—कथं तदधिगम इति किं वैदिकत्वाद्धर्मवत्परोक्षत्वेन किंवा घटादिवत्सिद्धत्वादपरोक्षत्वेनापीत्याकाङ्क्षायामात्मत्वाद्ब्रह्मणोऽपरोक्षत्वेनैवावगमः सम्यगवगम इत्युच्यते—येनेत्यादिना । मूढानां व्यतिरिक्तेनाऽऽत्मना देहादेर्वेद्यत्वं यद्यपि न प्रसिद्धं तथाऽपि विचारकाणां व्यतिरिक्तेनैव वेद्यत्वं प्रसिद्धं ततो यच्छब्देन प्रसिद्धवत्परामर्शो न विरुध्यत इति परिहरति—न त्वेवं देहादीत्यादिना । दैहिकाः शब्दादयो न स्वात्मानमन्यं च विजानीयुः शब्दादित्वाद्दृश्यत्वाच्च बाह्यवत् । विपक्षे बाधकमाह—यदि हीति ॥ १ ॥

गो० टी०—किं धर्मवत्परोक्षत्वेनोत घटवत्प्रत्यक्षत्वेन वाऽऽत्मनोऽधिगम इत्याकाङ्क्षापूर्वकमुत्तरं व्याचष्टे—यद्विज्ञानादित्यादिना । देहादिविलक्षणविज्ञानस्वभावत्वमात्मनोऽप्रसिद्धमित्याक्षिपति—नन्विति । विजानामीति । शब्दादीनी( नि )ति शेषः । सार्वलौकिकप्रतीतिं दर्शयति—देहादीति । तथा च येनेति प्रसिद्धार्थकयच्छब्दप्रयोगोऽनुपपन्न इति भावः । यद्यप्यात्मनो लोकतोऽविलक्षणत्वप्रसिद्धिस्तथाऽपि विचारकाणां व्यतिरिक्तत्वेनैवाऽऽत्मस्वरूपप्रसिद्धेर्यच्छब्दविरोधो नास्तीति परिहरति—नेत्यादिना । देहादेर्विज्ञातृत्वाभावे हेतुद्वयमाह—शब्दादीत्यादिना । गुणगुणिनोरभेदाच्छब्दादिस्वरूपत्वं संघातस्य द्रष्टव्यम् । कार्यकारणसंबन्धिनः शब्दादयः स्वात्मानमन्यं च न जानीयुः शब्दादित्वाद्दृश्यत्वाद्बाह्यशब्दादिवत् । विपक्षे दोषमाह—यदि हीति । एतच्छब्दादेः स्वरूपाविज्ञानं नास्तीत्युक्ते फलितमाह—तस्मादिति । लोकः संघातात्मा व्यतिरिक्तस्वभावेन संघातस्य विज्ञातृत्वे दृष्टान्तमाह—यथेति । येनोष्णप्रकाशात्मना तद्व्यतिरिक्तात्मना संघातो जानातीत्यर्थः । शब्दादिकतिपयविज्ञेयोपादानादसर्वज्ञत्वमाशङ्क्याऽऽह—आत्मनेति । ( त्मन इति । ) अविज्ञेयमिति च्छेदः । सर्वस्य विज्ञेयत्वे फलितमाह—यस्येति । तत्त्वविज्ञानमुपसंहरति—एतदिति । तदैक्यविषयमिति, प्रकृतमनुद्रवति—यदित्यादिना । यदित्यादिवाक्यस्यार्थं त्वंपदलक्ष्यनि-

१ ख. ग. ट. °र्वज्ञ एव । ए° । २ क. ङ. च ख. ग. ट. तद्वैत° ।

देशोऽन्यदिति तत्पदलक्ष्यनिर्देशः । नास्तीत्यन्तेन वाक्यार्थनिर्देशः । वैशब्द: सर्वोपनिषदे( दै )कल्प्यपदर्शनार्थः ॥ ३ ॥

अतिसूक्ष्मत्वाद्दुर्विज्ञेयमिति मत्वैतमेवार्थं पुनः पुनराह—

**स्वप्नान्तं जागरितान्तं चोभौ येनानुपश्यति ।**
**महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥ ४ ॥**

स्वप्नान्तं स्वप्नमध्यं स्वप्नविज्ञेयमित्यर्थः । तथा जागरितान्तं जागरितमध्यं जागरितविज्ञेयं च । उभौ स्वप्नजागरितान्तौ येनाऽऽत्मनाऽनुपश्यति लोक इति सर्वं पूर्ववत् । तं महान्तं विभुमात्मानं मत्वाऽवगम्याऽऽत्मभावेन साक्षादहमस्मि परमात्मेति धीरो न शोचति ॥ ४ ॥

आ० टी०—॥ ४ ॥

गो० टी०—विज्ञेयपरिसमाप्तेरुत्तरग्रन्थवैयर्थ्यशङ्कायामाह—अतिसूक्ष्मत्वादिति । आह प्रकारान्तरेणेति शेषः । त्रिपुटीसंग्रहार्थमाह—स्वप्नविज्ञेयमिति । एवमुत्तरत्र । पूर्ववदिति । यच्छब्दाक्षेपसमाधानादि सर्वं पूर्ववदित्युच्यते । महान्तं व्यापकम्, विभुं विविधं भवत्यस्मादिति विभुं सर्वकल्पनाधिष्ठानमित्यर्थः । इति साक्षान्मत्वेति संबन्धः । साक्षात्कार एव धैर्यं तद्वानित्यर्थः ॥ ४ ॥

किंच—

**य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात् ।**
**ईशानं भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते । एतद्वै तत् ॥ ५ ॥**

यः कश्चिदिमं मध्वदं कर्मफलभुजं जीवं प्राणादिकलापस्य धारयितारमात्मानं वेद विजानात्यन्तिकादन्तिके समीप ईशानमीशितारं भूतभव्यस्य कालत्रयस्य, ततस्तद्विज्ञानादूर्ध्वमात्मानं न विजुगुप्सते न गोपायितुमिच्छत्यभयप्राप्तत्वात् । यावद्धि भयमध्यस्थोऽनित्यमात्मानं मन्यते तावद्गोपायितुमिच्छत्यात्मानम् * । यदा तु नित्यमद्वैतमात्मानं विजानाति तदा किं कः कुतो वा गोपायितुमिच्छेदेतद्वै तदिति पूर्ववत् ॥ ५ ॥

आ० टी०—॥ ५ ॥

गो० टी०—कर्मफलभोक्तृत्वप्राणादिकलापधारयितृत्वोपलक्षितमात्मानं त्वंपदलक्ष्यं कालत्रयपरिच्छेद्यवस्त्वीशितृत्वोपलक्षिततत्पदलक्ष्यं यः कश्चिदधिकारी वेद साक्षात्क-

* अत्र टीकानुरोधेन षष्ठ्यन्तपाठोऽपेक्ष्यते ।

१ घ. °च्छत्यात्मानं यदा ।

रोति स तस्मादनन्तरमात्मानं नरकपातादिभयान्न रक्षितुमिच्छतीति प्रकारान्तरमाह—किंचेति । मधु कर्मफलमत्तीति मध्वदस्तमिति व्युत्पत्त्याऽऽह—मध्वदमिति । सामीप्यं चात्राभेदः । अभेदेन वेदेत्यर्थः । अरक्षणे हेतुमाह—अभयमाप्नुत्वादिति । उक्तमर्थं व्यतिरेकेणोपपादयति—यावद्धीति । आत्मन इति कर्मणि षष्ठी । अन्वयमाह—यदेति । नित्यस्यापि द्वितीयसंबन्धाद्भयशङ्का तन्नेत्याह—अद्वैतमिति । पूर्वमिति । यन्नचिकेतसा पृष्टं देवादिभिर्विचिकित्सितं धर्मादिभ्योऽन्यद्विष्णोः परमं पदं यस्मात्परं नास्ति तद्वा एतदधिगतमित्यर्थः ॥ ५ ॥

यः प्रत्यगात्मेश्वरभावेन निर्दिष्टः स सर्वात्मेत्येतद्दर्शयति—

**यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत । गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत । एतद्वै तत् ॥ ६ ॥**

यः कश्चिन्मुमुक्षुः पूर्वं प्रथमं तपसो ज्ञानादिलक्षणाद्ब्रह्मण इत्येतज्जातमुत्पन्नं हिरण्यगर्भम् । किमपेक्ष्य पूर्वमित्याह—अद्भ्यः पूर्वमप्सहितेभ्यः पञ्चभूतेभ्यो न केवलाभ्योऽद्भ्य इत्यभिप्रायः । अजायत, उत्पन्नो यस्तं प्रथमजं देवादिशरीराण्युत्पाद्य सर्वप्राणिगुहां हृदयाकाशं प्रविश्य तिष्ठन्तं शब्दादीनुपलभमानं भूतेभिर्भूतैः कार्यकारणलक्षणैः सह तिष्ठन्तं यो व्यपश्यत यः पश्यतीत्येतत् । य एवं पश्यति स एतदेव पश्यति यत्तत्प्रकृतं ब्रह्म ॥ ६ ॥

आ० टी०—यः कश्चित्पूर्वं तपसो जातं पश्यति स प्रकृतं ब्रह्मैव पश्यतीति संबन्धः । अद्भ्यः पूर्वमित्यादिना हिरण्यगर्भस्य विशेषेणान्तःकरणांशेन जीवावच्छेदकत्वाज्जीवतादात्म्यविवक्षया विशेषणं शब्दादीनुपलभमानमिति । यदिति । यस्माल्लोके सुवर्णाज्जातं कुण्डलं सुवर्णमेव भवति तद्वद्ब्रह्मणो जातो हिरण्यगर्भोऽपि ब्रह्मात्मक एवेत्यर्थः ॥ ६ ॥

गो० टी०—उत्तरसंदर्भस्य तात्पर्यमाह—य इति । यः पूर्वं तपसो जातं हिरण्यगर्भं पश्यति स यत्तत्प्रकृतं ब्रह्म तदेव पश्यतीति संबन्धः । आकाङ्क्षापूर्वकं हिरण्यगर्भं विशिनष्टि—किमित्यादिना । प्रथमजं पश्यतीत्यन्वयः । तस्यैव विशेषणान्तरमाह—देवादीति । शब्दादीनुपलभमानमिति । ननु हिरण्यगर्भस्य प्रतिदेहं भोगाभावात्कथं शब्दादीनुपलभमानमि[ती]ति चेद्धिरण्यगर्भस्यान्तःकरणांशेन जीवोपाधित्वाज्जीवतादा-

१ ख. ज. स एवाऽप्रमे° । २ ख. ज. हृदाका° । ३ ग. च. झ. °र्यकर° । ४ क. ज. °ती° त्यर्थः । य ।

स्यविवक्षया विशेषणं शब्दादीनुपलभमानमि[ती]ति भावः । ननु हिरण्यगर्भदर्शनं प्रकृतब्रह्मदर्शनं कथमिति चेत्सुवर्णाज्जातं कुण्डलं सुवर्णं यथा तद्वद्ब्रह्मणो जातो हिरण्यगर्भोऽपि ब्रह्मात्मक एवेति बोध्यम् ॥ ६ ॥

किंच—

**या प्राणेन संभवत्यदितिर्देवतामयी । गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीं या भूतेभिर्व्यजायत । एतद्वै तत् ॥ ७ ॥**

या सर्वदेवतामयी सर्वदेवतात्मिका प्राणेन हिरण्यगर्भरूपेण परस्माद्ब्रह्मणः संभवति शब्दादीनामदनाददितिस्तां पूर्ववद्गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तीमदितिम् । तामेव विशिनष्टि—या भूतेभिर्भूतैः समन्विता व्यजायत, उत्पन्नेत्येतत् ॥ ७ ॥

आ० टी०— हिरण्यगर्भस्यैव विशेषणान्तरमाह—किंचेति ॥ ७ ॥

गो० टी०—हिरण्यगर्भस्यैव विशेषणान्तरमाह—किंचेति । अदनाद्भक्षणात् । पूर्ववदन्तःकरणद्वारा जीवतादात्म्यापन्नत्वाद्गुहायां स्थितिरित्यर्थः ॥ ७ ॥

किंच—

**अरण्योर्निहितो जातवेदा गर्भ इव सुभृतो गर्भिणीभिः । दिवे दिव ईड्यो जागृवद्भिर्हविष्मद्भिर्मनुष्येभिरग्निः । एतद्वै तत् ॥ ८ ॥**

योऽधियज्ञ उत्तराधरारण्योर्निहितः स्थितो जातवेदा अग्निः पुनः सर्वहविषां भोक्ताऽध्यात्मं च योगिभिर्गर्भ इव गर्भिणीभिरन्तर्वत्नीभिरगर्हितान्नपानभोजनादिना यथा गर्भः सुभृतः सुष्ठु सम्यग्भृतो लोके इवेत्थमेवर्त्विग्भिर्योगिभिश्च सुभृत इत्येतत् । किंच दिवे दिवेऽहन्यहनीड्यः स्तुत्यो वन्द्यश्च कर्मिभिर्योगिभिश्चाध्वरे हृदये च जागृवद्भिर्जागरणशीलवद्भिरप्रमत्तैरित्येतद्धविष्मद्भिराज्यादिमद्भिर्ध्यानभावनावद्भिश्च मनुष्येभिर्मनुष्यैरग्निरेतद्वै तत्तदेव प्रकृतं ब्रह्म ॥ ८ ॥

आ० टी० ॥ ८ ॥

गो० टी०—कटुकषायवर्जितं पानं श्लेष्मवातकरभिन्नस्य भोजनमगर्हितम् । दार्ष्टान्तिकमाह—इत्थमिति । यत्प्रकृतं ब्रह्म तदेतदग्नित्वि(वि)राड्रूपमित्यर्थः ॥ ८ ॥

१ क. ख. ज. 'दिनाऽयं य । २ क. ख. ज. 'कः इतीत्य' । ग च. म. 'क इवेत्थ' । घ. 'क इवेत्येतदृत्विग्भि' । ३ ग. घ. 'श्च संभृ' । ४ क. ख. ज. 'रशीलैर' । ५ ग. 'देवप्रकृ' ।

किंच—

**यतश्चोदेति सूर्योऽस्तं यत्र च गच्छति । तं देवाः सर्वे अर्पितास्तदु नात्येति कश्चन । एतद्वै तत् ॥ ९ ॥**

यतश्च यस्मात्प्राणादुदेत्युत्तिष्ठति सूर्योऽस्तं निम्लोचनं यत्र यस्मिन्नेव च प्राणेऽहन्यहनि गच्छति तं प्राणमात्मानं देवा अग्न्यादयोऽधिदैवं वागादयश्चाध्यात्मं सर्वे विश्वेऽरा इव रथनाभावर्पिताः संप्रवेशिताः स्थितिकाले । सोऽपि ब्रह्मैव । तदेतत्सर्वात्मकं ब्रह्म । तदु नात्येति नातीत्य तदात्मकतां तदन्यत्वं गच्छति कश्चन कश्चिदपि । एतद्वै तत् ॥ ९ ॥

---

आ० टी०—॥ ९ ॥

---

गो० टी०—प्राणं हिरण्यगर्भात् । सर्वात्मकं ब्रह्मोपसंहरति—तदेतदिति । उशब्द एवार्थोऽत्येतीत्यनेन संबध्यते । कश्चिदप्यज्ञोऽपि जनः, सुषुप्तौ प्राधान्येन तदात्मकतां जाग्रत्स्वप्नयोस्तत्संबन्धितां च गच्छतीत्यर्थः । अथवा फलार्थी ज्ञानेन संभूतकर्मानुष्ठाना तत्संबन्धिहिरण्यगर्भात्मकतां गच्छति निरतिशयपुरुषार्थी केवलात्मज्ञानेन तदात्मकतां गच्छतीत्यर्थः । एतद्वै तदिति पूर्ववद्व्याख्येयम् ॥ ९ ॥

---

यद्ब्रह्मादिस्थावरान्तेषु[1] वर्तमानं तत्तदुपाधित्वादब्रह्मवदवभासमानं[3] संसार्यन्यत्परस्माद्ब्रह्मण[4] इति मा भूत्कस्यचिदाशङ्केतीदमाह—

**यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह । मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ॥ १० ॥**

यदेवेह कार्यकारणोपाधिसमन्वितं[5] संसारधर्मवदवभासमानमविवेकिनां तदेव स्वात्मस्थममुत्र नित्यविज्ञानघनस्वभावं सर्वसंसारधर्मवर्जितं[6] ब्रह्म । यच्चामुत्रामुष्मिन्नात्मनि स्थितं[7] तदेवेह नामरूपकार्यकारणोपाधिमनु[8] विभाव्यमानं नान्यत् । तत्रैवं सत्युपाधिस्वभावभेददृष्टिलक्षणयाऽविद्यया मोहिताः[10] य[11] इह ब्रह्मण्यनानाभूते परस्मादन्योऽहं

---

१ क. ख. ज. देवाः सर्वेऽन्या° । २ क. ख. ज. ञ. °दिषु स्था° । ३ ङ. झ. ञ. ट. °मानमुपा° । ४ क. ख. ज. °र्यन्यः पर° । ५ ग. घ. झ. ट. °र्यकर° । ६ ङ. झ. ञ. ट. °र्मविव° । ७ क. ख. ज. °तं तदन्विह त° । ८ ग. घ. झ. ट. °र्यकर° । ९ ख. ज. सति य उपा° । १० क. ख. ज. °हितो यः सन्निह । ११ ख ज. स इ° ।

मत्तोऽन्यत्परं ब्रह्मेति नानेव भिन्नमिव पश्यत्युलभते स मृत्योर्मरणा-न्मरणं मृत्युं पुनः पुनर्जन्ममरणभावमाप्नोति प्रतिपद्यते । तस्मात्तथा न पश्येत् । विज्ञानैकरसं नैरन्तर्येणाऽऽकाशवत्परिपूर्णं ब्रह्मैवाहमस्मीति पश्येदिति वाक्यार्थः ॥ १० ॥

आ० टी०—सर्वात्मकं ब्रह्मोक्तं तदसत् । उपाध्यवच्छिन्नचैतन्यस्य जीवस्य संसारित्वाद्विरुद्धधर्माक्रान्तयोरैक्यायोगादित्याशङ्क्य विरुद्धधर्मत्वस्योपाधिनिबन्धनत्वात्तत्स्वभावैक्ये न किंचिन्नुपपन्नमित्याह—यदेवेहेत्यादिना । अमुष्मिञ्जगत्कारणत्वोपाधौ । उपाधिस्वभावश्च भेददृष्टिश्च ताभ्यां कारणतया लक्ष्यत इत्युपाधिस्वभावभेददृष्टिलक्षणा । न ह्यन्तःकरणाद्युपाधेर्भेददृष्टेश्चानिर्वाच्याविद्यामन्तरेण संभवः कार्यकारणभावस्य संवित्संबन्धस्य च दुर्निरूपत्वात् । नानेवेत्युपमार्थ इवशब्दः । यथा स्वप्ने नानात्वाभावेऽपि नानात्वमध्यारोप्य सत्यत्वाभिनिवेशेन व्यवहरति तथा जागरितेऽपि नानात्वमध्यारोप्य सत्यत्वाभिनिवेशेन यो व्यवहरति तस्य निन्दितत्वादेकरसं ब्रह्मैवास्मीति प्रतिपत्तव्यमित्यर्थः ॥ १० ॥

गो० टी०—ननु सर्वात्मकं ब्रह्मोक्तं तदसत्तदुपाध्यवच्छिन्नचैतन्यस्य संसारित्वाद्ब्रह्मणश्चासंसारित्वाद्विरुद्धधर्माक्रान्तयोरैक्यायोगादित्याशङ्कते—यदेवेहेति । तत्तदुपाधिकत्वात्तथावरान्तोपाधिमत्त्वाद्ब्रह्मवदवभासमानं तच्चैतन्यं संसारी स च परस्माद्ब्रह्मणोऽन्य इति संबन्धः । उत्तरमाह—मा भूदिति । इत्याशङ्क्य कस्यचिन्मा भूदितीदं विरुद्धधर्मवत्त्वस्योपाधिनिबन्धनत्वान्न स्वभावैक्ये किंचिदनुपपन्नमित्युत्तरमाहेत्यर्थः । इह जीवोपाधौ । अत्रभसमानमिति विशेषणद्वयान्वये । ननु प्रत्यक्चैतन्यं यच्छब्दवाच्यं विवेकिनां नैवं भासते तत्राऽऽह—अविवेकिनामिति । तदेवामुत्र कारणोपाधावित्यन्वयः । ननु विशिष्टजीवचैतन्यस्य कथं तत्पदार्थरूपत्वं तत्राऽऽह—स्वात्मस्थमिति । लक्षितमित्यर्थः । ब्रह्म भवतीति शेषः । व्यतिहारमाह—यच्चेति । अमुष्मिन्कारणोपाधौ । अन्वित्यस्यार्थमाह—अनु विभाव्यमानमिति । अभेददार्ढ्यार्थे भेदनिन्दामवतारयति—तत्रेति । जीवेश्वरोपाध्योर्मध्ये । एवं सति तद्गतचैतन्यैकत्वे सति । उपाधिस्वभावश्च भेददृष्टिश्च ताभ्यां कारणतया लक्ष्यत इत्युपाधि[स्वभाव]भेददृष्टिलक्षणा तया । न ह्यन्तःकरणाद्युपाधेर्भेददृष्टेश्चानिर्वाच्याविद्यामन्तरेण संभवः कार्यकारणभावस्य संवित्संबन्धस्य च दुर्निरूपत्वादिति भावः । भिन्नदर्शनमनुकरोति—परस्मादिति । नानेवेत्युपमार्थ इवशब्दः । यथा स्वप्नेऽनानात्वस्वभावे प्रत्यगात्मनि नानात्वमध्यारोप्य सत्यत्वाभिनिवेशेन व्यवहरति तथा जागरितेऽपि नानात्वमध्यारोप्य सत्यत्वाभिनिवेशेन यो व्यवहरति तस्य निन्दितत्वादेकरसं ब्रह्मा-

१ क. ख. ज. °णान्मृत्युं मरणं पु° । २ क. झ. ञ. ट. °र्जनम° ।

स्मीति प्रतिपत्तव्यमित्यर्थः । मरणग्रहणमुपलक्षणमिति द्रष्टव्यम् —पुनः पुनरिति ॥ १० ॥

**मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानाऽस्ति किंचन । मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति ॥ ११ ॥**

प्रागेकत्वविज्ञानादाचार्यागमसंस्कृतेन मनसैदं ब्रह्मैकरसमाप्तव्यमात्मैव नान्यदस्तीति । आप्ते च नानात्वप्रत्युपस्थापिकाया अविद्याया निवृत्तत्वादिह ब्रह्मणि नाना नास्ति किंचनाणुमात्रमपि । यस्तु पुनरविद्यातिमिरदृष्टिं न मुञ्चति नानेव पश्यति स मृत्योर्मृत्युं गच्छत्येव स्वल्पमपि भेदमध्यारोपयन्नित्यर्थः ॥ ११ ॥

आ० टी०—एकरसं चेद्ब्रह्म कथं ज्ञातृज्ञेयविभाग इत्याशङ्क्याज्ञं प्रति कल्पितभेदेनेत्याह—प्रागेकत्वविज्ञानादिति ॥ ११ ॥

गो० टी०—एकरसं चेद्ब्रह्म कथं ज्ञातृज्ञेयविभाग इत्याशङ्क्याज्ञं प्रति कल्पितभेदेनेत्याह—प्रागेकत्वविज्ञानादिति । इति यस्मान्नान्यदस्ति तस्माद्ब्रह्मैवेत्यन्वयः । ज्ञानानन्तरं फलमाह— आप्ते चेति । नानादर्शननिन्दामुपसंहरति—यस्त्विति ॥ ११ ॥

पुनरपि तदेव प्रकृतं ब्रह्माऽऽह—

**अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि । ईशानो भूतभव्यस्य न ततो विजुगुप्सते । एतद्वै तत् ॥ १२ ॥**

अङ्गुष्ठमात्रोऽङ्गुष्ठपरिमाणः । अङ्गुष्ठपरिमाणं हृदयपुण्डरीकं तच्छिद्रवर्त्यन्तःकरणोपाधिरङ्गुष्ठमात्रोऽङ्गुष्ठमात्रवंशपर्वमध्यवर्त्यम्बरवत् । पुरुषः पूर्णमनेन सर्वमिति । मध्य आत्मनि शरीरे तिष्ठति यस्तमात्मानमीशानं भूतभव्यस्य विदित्वा न तत इत्यादि पूर्ववत् ॥ १२ ॥

आ० टी०—अङ्गुष्ठपरिमाणं जीवमनूद्य ब्रह्मभावविधानाद्विधीयमानविरोधादङ्गुष्ठमात्रस्याविवक्षितत्वाद्ब्रह्मपरमेव वाक्यमित्याह—पुनरपि तदेवेति ॥ १२ ॥

गो० टी०— अङ्गुष्ठपरिमाणं जीवमनूद्य ब्रह्मभावविधानाद्विधीयमानविरोधादङ्गुष्ठमात्रत्वस्य चाविवक्षितत्वाद्ब्रह्मपरमेव वाक्यमित्याह—पुनरपीति । तस्य पुण्डरीकस्य च्छिद्रं तत्प्राधान्येनाऽऽधारमस्येति (धारोऽस्ये) * तच्छिद्रवदन्तःकरणमुपाधिर्यस्य स

* भाष्य एतदनुरोधेन तच्छिद्रवदन्तःकरणोपाधिरिति पाठः स्यात् ।

१ क. °नसैवेदं २ ग. च. °णि नेह ना° । ३ घ. यश्च पु° । ४ क. °ष्वतीह ब्रह्मणि ना° । ५ ख. ज. °ति मृत्यो° । ६ ख. छ. झ. °शानं भु° । ७ क. ख. ज. ततो विजुगुप्सत एतद्वै तदित्यादि पू° ।

तथोक्तः । उपाधिप्रयुक्तमात्मनोऽङ्गुष्ठमात्रत्वमित्यत्र दृष्टान्तमाह—अङ्गुष्ठमात्रेति । अङ्गुष्ठपरिमितवेणुवर्त्याकाशस्योपाधिवशादङ्गुष्ठपरिमाणत्वं यथा तद्वदात्मन इत्यर्थः । प्रत्यगात्मानमनूद्य तस्य सामानाधिकरण्यलब्धतत्पदलक्ष्यस्वरूपतामाह—य इति । ततस्तद्विज्ञानादूर्ध्वमात्मानं न गोपायितुमिच्छतीत्यभयस्य प्राप्तत्वादिति व्याख्यानं तत इत्यादेः पूर्ववदित्याह—न तत इति ॥ १२ ॥

किंच—

**अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः । ईशानो भूतभव्यस्य स एवाद्य स उ श्वः । एतद्वै तत् ॥ १३ ॥**

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकोऽधूमकमिति[1] युक्तं ज्योतिष्परत्वात् । यस्त्वेवं लक्षितो योगिभिर्हृदय ईशानो भूतभव्यस्य स नित्यः कूटस्थोऽद्येदानीं प्राणिषु वर्तमानः स उ श्वोऽपि वर्तिष्यते नान्यस्तत्समोऽन्यश्च जनिष्यत इत्यर्थः । अनेन नायमस्तीति चैक इत्ययं पक्षो न्यायतोऽप्राप्तोऽपि स्ववचनेन श्रुत्या प्रयुक्तस्तथा क्षणभङ्गवादश्च ॥ १३ ॥

आ० टी०—॥ १३ ॥

गो० टी०—नायमस्तीति द्वितीयपक्षस्योत्तरत्वेनोत्तरं वाक्यमवतारयति—किंचेति । युक्तं पठनमिति शेषः । तत्र हेतुमाह—ज्योतिरिति । परत्वाद्विशेषणत्वादित्यर्थः । यः प्रत्यगात्मा भूतभव्यस्येशानः सल्लँक्षित इत्यन्वयः । उत्तरार्धं व्याख्यातः । एवकारार्थमाह—नान्य इति । यदर्थं वाक्यमवतारितं तमाह—अनेनेति । नन्वस्य कृतहानाकृताभ्यागमादिदोषात्प्राप्तिरेव नेत्यत आह—न्यायत इति । प्रत्युक्तो दार्ढ्यार्थमिति शेषः । प्रत्युक्त इत्यन्वयार्थश्चकारः ॥ १३ ॥

पुनरपि भेददर्शनापवादं ब्रह्मण आह—

**यथोदकं दुर्गे वृष्टं पर्वतेषु विधावति । एवं धर्मान्पृथक्पश्यंस्तानेवानुविधावति ॥ १४ ॥**

यथोदकं दुर्गे दुर्गमे देश उच्छ्रिते वृष्टं सिक्तं पर्वतेषु पर्ववत्सु[3] निम्नप्रदेशेषु विधावति विकीर्णं सद्विनश्यति, एवं धर्मानात्मनो भिन्नान्पृथक्पश्यन्पृथगेव प्रतिशरीरं पश्यंस्तानेव शरीरभेदानुवर्तिनोऽनु[4]विधावति । शरीरभेदमेवं पृथक्पुनः[5] पुनः प्रतिपद्यत इत्यर्थः ॥ १४ ॥

१ क. ग. घ. च. 'मित्युक्तं । २ क. ख ज. स एव नि' । ३ ग. च. 'र्वत्सु' । ४ ङ. झ. ञ. ट. 'नुधा' । ५ क. ख. 'व पु' ।

आ० टी०—॥ १४ ॥

गो० टी०—पौनरुक्त्यं परिहरन्संबन्धमाह—पुनरपीति। उच्छ्रित उन्नते। दधत इति धर्मा इत्याह-आत्मन इति। अनु[वि]धावतीत्यस्य तात्पर्यार्थमाह-शरीरेति॥ १४॥

यस्य पुनर्विद्यावतो विध्वस्तोपाधिकृतभेददर्शनस्य विशुद्धविज्ञानघनैकरसमद्वयमात्मानं पश्यतो विजानतो मुनेर्मननशीलस्याऽऽत्मस्वरूपं[१] कथं संभवतीत्युच्यते—

यथोदकं शुद्धे शुद्धमासिक्तं तादृगेव भवति। एवं मुनेर्विजानत आत्मा भवति गौतम ॥ १५ ॥

इति काठकोपनिषदि द्वितीयाध्याये प्रथमवल्ली समाप्ता॥ १॥(४)।

यथोदकं शुद्धे प्रसन्ने शुद्धं प्रसन्नमासिक्तं प्रक्षिप्तमेकरसमेव नान्यथा तादृगेव भवत्यात्माऽप्येवमेवं भवत्येकत्वं विजानतो मुनेर्मननशीलस्य हे गौतम। तस्मात्कुतार्किकभेददृष्टिं नास्तिककुदृष्टिं चोज्झित्वा × मातृपितृसहस्रेभ्योऽपि हितैषिणा वेदेनोपदिष्टमात्मैकत्वदर्शनं शान्तदर्पैरादरणीयमित्यर्थः ॥ १५ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-श्रीमदाचार्यश्रीशंकरभगवतः कृतौ काठकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयाध्याये प्रथमवल्लीभाष्यं समाप्तम् ॥ १ ॥(४)।

आ० टी०—॥ १५ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचिते काठकोपनिषद्भाष्यव्याख्याने द्वितीयाध्याये प्रथमवल्ली समाप्ता ॥१॥ (४)।

गो० टी०—यथोदक शुद्ध इति वाक्यमपेक्षितं पूरयन्व्याचष्टे—यस्येत्यादिना। उपाधिरविद्यादिः। संपूर्णवल्ल्यास्तात्पर्यार्थमाह—तस्मादिति। यस्माद्बहुशो भेदो निन्दितस्तस्मादित्यर्थः। नास्तिकभेददृष्टिः क्षणिकविज्ञानात्मसंतानभेददृष्टिस्ताम्।

× मध्यमपदलोपी समास.।

१ झ. ञ ठ. 'ज्ञानैकर'। २ घ. ज. 'थं भवति य'। ३ ज. 'त्मा संभ'। ४ क. ख. ज. 'त्ममेवाऽऽत्मा भ'। ५ ख. ज. मातापि'।

सर्वापेक्षया विप्रोऽर्हितवत्कृत्यं प्रसिद्धम्। श्रुतितोऽन्यस्य सम्यग्विषेतं नेति श्रुत्युक्तमद्वैतदर्शनमेवाऽऽदरणीयं श्रद्धाभक्तिभ्यामित्यर्थः ॥ १५ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्यश्रीमद्बालगोपालेन्द्रयतीश्वरविरचिते काठकोपनिषद्भाष्यविवरणे द्वितीयाध्याये प्रथमवल्ली समाप्ता ॥१॥(४)।

---

पुनरपि प्रकारान्तरेण ब्रह्मतत्त्वनिर्धारणार्थोऽयमारम्भो दुर्विज्ञेयत्वाद्ब्रह्मणः—

**पुरमेकादशद्वारमजस्यावक्रचेतसः। अनुष्ठाय न शोचति विमुक्तश्च विमुच्यते। एतद्वै तत् ॥ १ ॥**

पुरं पुरमिव पुरम्। द्वारपालाधिष्ठात्राद्यनेकपुरोपकरणसंपत्तिदर्शनाच्छरीरं पुरम्। पुरं च सोपकरणं स्वात्मनाऽसंहतस्वतन्त्रस्वाम्यर्थं दृष्टम्। तथेदं पुरसामान्यादनेकोपकरणसंहतं शरीरं स्वात्मनाऽसंहतराजस्थानीयस्वाम्यर्थं भवितुमर्हति। तच्चेदं शरीराख्यं पुरमेकादशद्वारमेकादश द्वाराण्यस्य सप्त शीर्षण्यानि नाभ्या सहार्वाञ्चि त्रीणि शिरस्येकं तैरेकादशद्वारं पुरं कस्याजस्य जन्मादिविक्रियारहितस्याऽऽत्मनो राजस्थानीयस्य पुरधर्मविलक्षणस्य। अवक्रचेतसोऽवक्रमकुटिलमादित्यप्रकाशवन्नित्यमेवावस्थितमेकरूपं चेतो विज्ञानमस्येत्यवक्रचेतास्तस्यावक्रचेतसो राजस्थानीयस्य ब्रह्मणः। यस्येदं पुरं तं परमेश्वरं पुरस्वामिनमनुष्ठाय ध्यात्वा। ध्यानं हि तस्यानुष्ठानं सम्यग्विज्ञानपूर्वकम्। तं सर्वैषणाविनिर्मुक्तः सन्समं सर्वभूतस्थं ध्यात्वा न शोचति। तद्विज्ञानादभयप्राप्तेः शोकावसराभावात्कुतो भयेक्षा। इहैवाविद्याकृतकामकर्मबन्धनैर्विमुक्तो भवति। विमुक्तश्च सन्विमुच्यते पुनः शरीरं न गृह्णातीत्यर्थः ॥ १ ॥

---

आ० टी०—पौनरुक्त्यं परिहरन्संबन्धमाह—पुनरपीति। भूयोऽपि पथ्यं वक्तव्यमिति न्यायेनोपायान्तरेण ब्रह्म ज्ञाप्यते तत्रोपाया एव भिद्यन्ते नोपेयस्य भेदोऽस्तीति। पुरेणासंहतत्वं स्वामिनः पुरोपचयापचयाभ्यामुपचयापचयराहित्यम्। तत्सत्ताप्रतीतिमन्तरेण सत्ताप्रतीतिमत्त्वं स्वातन्त्र्यम् ॥ १ ॥

---

१ क. झ. ञ. ट. °णार्थेऽयमा°। २ क. °र्थोऽप्यय°। ३ झ. ञ. ट. दुर्ज्ञेय°। ४ घ. °नीयं स्वा°। ५ ञ. ट. °स्वात्मार्थं। ६ क. च. झ. ञ. ट. °ह्वावाञ्चि शि°। ७ ञ. ट. °यस्याजस्य ब्र°। ८ घ. °वैकं स०। ९ क. ख. ग. झ. सर्वैष°। १० घ. च. °प्राप्ति. शो°। ११ क. घ. ङ. च. °त्कुत इ°। ख. ज. °कुतो भयेच्छा°। ग. कुतो भयापेक्षा।

गो० टी०—नन्वनेकप्रकारमात्मतत्त्वं प्रतिपादितं किमर्थमुत्तरवल्ल्यारम्भ इति चेदात्मतत्त्वस्य दुर्विज्ञेयत्वात्प्रकारान्तरेण तदुक्तिरिति पौनरुक्त्यं परिहरन्संबन्धमाह—पुनरपीति । भूयोऽपि पथ्यं वक्तव्यमिति न्यायेनोपायान्तरेणापि ब्रह्म ज्ञाप्यते तत्रोपाया एव भिद्यन्ते नोपेयस्य भेदोऽस्तीति भावः । अक्षराणि व्याचष्टे—पुरमिति । पुरं शरीरमिति संबन्धः । पुरसादृश्यमाह—द्वारेति । दृष्टान्ते द्वारपाला भटाः, तेषामधिष्ठातारोऽधिपतयः । आदिशब्देन मन्त्रिबन्दिसप्तप्राकारयन्त्राट्टालिकादिर्गृह्यते । दार्ष्टान्तिके तु मूर्धनाभिसहितचक्षुःश्रोत्रनासिकामुखाधोरन्ध्राणि द्वाराणि द्वारपालाश्चक्षुरादीन्द्रियाणि । नाभेः समानो मूर्ध्नः प्राणस्तेषामधिष्ठातारो दिग्वाताद्यः । आदिशब्देन त्वङ्मांसरुधिरमेदोमज्जास्थिस्नायवः प्राकारसदृशाः । मूलाधारा[धा]ज्ञातः(न्ता)न्यट्टालिकासदृशानि संधयो यन्त्राणि रोमाणि प्राकारोपरिस्थितविशाखसदृशानीत्यादि द्रष्टव्यम् । शरीरस्य पुरत्वरूपकोक्तेः प्रयोजनमाह—पुरं चेति । स्वात्मना पुरेणासंहतत्वं स्वामिनः पुरोपचयापचयाभ्यामुपचयापचयराहित्यम्, पुरसत्ताप्रतीतिमन्तरेण सत्ताप्रतीतिमत्त्वं स्वातन्त्र्यम् । तथेति । यथा पुरेणासंहतः स्वतन्त्रो यः स्वामी तच्छेषतया पुरं दृष्टं तथा पुरसादृश्यादनेकोपकरणसहितं प्रत्यक्षं शरीरं शरीरेणासंहतो राजस्थानीयः स्वतन्त्रो यः स्वामी तदर्थं भवितुमर्हतीत्यर्थः । तत्स्वाम्यर्थम् । विशेषणसमुच्चयार्थश्चकारः । विशेषणमेव व्याचष्टे—एकादशेति । पुरस्वामिनमाकाङ्क्षापूर्वकं सविशेषं संनिर्दिशति—कस्येति । जन्मादीति । षड्भावरहितस्येत्यर्थः । दृष्टान्ते राज्ञोऽवक्रचेतस्त्वं सर्वप्रकृत्यनुकूलत्वम् । प्रकृते तु यथा सविता स्वाविन भूतप्रकाशवानित्युच्यते तथा जन्मादिरहिताखण्डरूपेणावस्थितनित्यविज्ञप्तिरूपत्वमित्याह—अवक्रमित्यादिना । अनुष्ठायेत्यादिवाक्यमपेक्षितं पूरयन्व्याचष्टे—यस्येति । ननु पुरस्वामिनो जीवत्वात्तस्येश्वरत्वनिर्देशः कथमिति चेदजस्येति जीवस्यावक्रचेतस इतीश्वरत्वनिर्देशात्सामानाधिकरण्यादभेदे प्रत्यगभिन्नेश्वरस्य पुरस्वामित्वनिर्देशो घटत इति भावः । आत्मनः क्रियाविषयत्वाभावादनुष्ठानमात्मनि ध्यानमेव योग्यतावशादित्याह—ध्यानं हीति । सम्यग्विज्ञानपूर्वकमिति । अप्रतिबद्धापरोक्षसाक्षात्काररूपं विज्ञानं पूर्वमुद्देश्यं यस्य तत्तथा । अन्यथा सम्यग्विज्ञानानन्तरं ध्यानायोगात्साक्षात्कारार्थत्वे ध्यायतेर्लक्षणार्थत्वापत्तेस्तद्विज्ञानादभयप्राप्तिरित्युत्तरभाष्यविरोधादित्यधिकारिणं निर्दिशति—सर्वेति । भयेक्षा भयस्य दर्शनमित्यर्थः । विमुक्तश्च विमुच्यत इति पदयोः पौनरुक्त्यं परिहरति—इहैवेति ॥ १ ॥

---

स तु नैकशरीरपुरवर्त्येवाऽऽत्मा किं तर्हि सर्वपुरवर्ती । कथम्—

**हꣳसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरो-**

---

१ ख. ग. ङ. °कपु°।

णसत् । नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतं बृहत् ॥ २ ॥

हंसो हन्ति गच्छतीति, शुचिषच्छुचौ दिव्यादित्यात्मना सीदतीति। वसुर्वासयति सर्वानिति[1] । वाय्वात्मनाऽन्तरिक्षे सीदतीत्यन्तरिक्षसत् । होताऽग्निः, अग्निर्वै होतेति श्रुतेः । वेद्यां पृथिव्यां सीदतीति वेदिषत्, इयं वेदिः परोऽन्तः पृथिव्या इत्यादिमन्त्रवर्णात् । अतिथिः सोमः सन्दुरोणे[2] कलशे सीदतीति दुरोणसत् । ब्राह्मणोऽतिथिरूपेण वा दुरोणेषु[3] गृहेषु सीदतीति । नृषन्नृषु मनुष्येषु सीदतीति नृषत् । वरसद्वरेषु देवेषु सीदतीति । ऋतसदृतं सत्यं यज्ञो वा तस्मिन्सीदतीति । व्योमसद्व्योम्न्याकाशे सीदतीति[4] व्योमसत् । अब्जा अप्सु शङ्खशुक्तिमकरादिरूपेण जायत इति । गोजा गवि पृथिव्यां व्रीहियवादिरूपेण जायत इति । ऋतजा यज्ञाङ्गरूपेण जायत इति । अद्रिजाः पर्वतेभ्यो नद्यादिरूपेण जायत इति । सर्वात्माऽपि सन्नृतमवितथस्वभाव एव । बृहन्महान्सर्वकारणत्वात् । यदाऽप्यादित्य एव मन्त्रेणोच्यते तदाऽप्यस्याऽऽत्मस्वरूपत्वमा[5]दित्यस्याङ्गी( त्यस्येत्यङ्गी )कृतत्वाद्[6]ब्राह्मणव्याख्यानेऽप्यविरोधः[7] । सर्वव्याप्येक[8] एवाऽऽत्मा जगतो नाऽऽत्मभेद इति मन्त्रार्थः ॥ २ ॥

आ० टी० - या यज्ञे प्रसिद्धा वेदिः पृथिव्याः परोऽन्तः परः स्वभाव इति वेद्याः पृथिवीस्वभावत्वसंकीर्तनात्पृथिवी वेदिशब्दवाच्या भवतीत्यर्थः । असौ वा आदित्यो हंसः शुचिषदिति ब्राह्मणेनाऽऽदित्यो मन्त्रार्थतया व्याख्यातः कथं तद्विरुद्धमिदं व्याख्यातमित्याशङ्क्याऽऽह- यदाऽप्यादित्य एवेति । सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्चेति मन्त्रान्मण्डलोपलक्षितस्य चिदात्मनोऽभिप्रेतत्वाद्वा सूर्यस्यात्मत्वमित्यर्थः ॥ २ ॥

गो० टी०— ननु पुरमिति विशेषणादेकपुरवर्तित्वमुक्तं तथा च परिच्छिन्नत्वापत्तिरित्याशङ्क्याऽऽकाङ्क्षापूर्वकमुत्तरमवतारयति—स त्विति । तुशब्देनाऽऽशङ्का निवर्त्यते । हंस [ सन्निति योजना । ] सन्नित्युत्तरेष्वपि द्रष्टव्यमिति व्युत्पत्त्या शुचिषदादित्यः स्वात्मेत्यर्थः । ननु वेदिशब्देन चतुरङ्गुलखाता भूमिरुच्यते कथं पृथिव्य-

१ ग. ङ. च. झ. ञ. ट. 'र्वान् । वा' । २ क. ग. सद्रोणे । ३ झ. ञ. ट. 'षु यज्ञगृ' । ४ ज. झ. ञ. ट. 'ति, अ' । ५ क. ख. ग. घ. ङ. च. ज. 'दाऽप्यात्म' । ६ क. घ. 'पवस्त्वमा' । ७ क. ज. झ. ञ. ट. ठ. 'त्वाद्ब्राह्मणो व्या' । ख. ग. 'त्वाद्ब्राह्मणि व्या' । ८ क. ख. ज. 'र्वथाऽप्ये' । ग. 'र्वथाऽपि व्या' । ङ. च. 'र्वथा व्या' ।

भिधीयते तत्राऽऽह—इयमिति । या यज्ञे प्रसिद्धेयं वेदिः पृथिव्याः परोऽन्तः परः स्वभाव इति वेद्याः पृथिवीस्वभावत्वकीर्तनात्पृथिवी वेदिशब्दवाच्या भवतीत्यर्थः । समरसाधारबृहत्पात्रं द्रोणकलशशब्देनोच्यते । अतिथिशब्दस्य रूढ्यर्थमाशङ्क्यार्थान्तरमाह—ब्राह्मण इति । इति दुरोणसदित्यन्वयः । इति वरसदित्यन्वयः । एवमुत्तरत्र । ननु सर्वात्मत्वे सप्रपञ्चत्वेन मिथ्यात्वं स्यादात्मन इत्याशङ्क्याऽऽह-सर्वेति । पारमार्थिकनिरतिशयस्वभावमे( व ए )वेत्यत्र हेतुः-बृहदिति । तत्र हेतुः—सर्वेति । निरधिष्ठानभ्रमायोगाद्द्वैतभ्रमाधिष्ठानभूतात्मनो न मिथ्यात्वमिति भावः । नन्वसौ वा आदित्यो हंसः शुचिषदित्यादित्यो मन्त्रार्थतया व्याख्यातः कथं तद्विरुद्धमिदं व्याख्यातमित्याशङ्क्याऽऽह—यदाऽप्यादित्य एवेति । अस्याऽऽदित्यस्येति संबन्धः । सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्चेति मन्त्रवर्णान्मण्डलोपलक्षितचिद्धातोरिष्यत एव सर्वात्मत्वमित्यर्थः । सर्वव्यापीति । प्रतीचः केवलस्य मण्डलोपलक्षितचैतन्यस्य वा मन्त्रार्थत्वमित्यर्थः ॥ २ ॥

---

आत्मनः स्वरूपाधिगमे लिङ्गमुच्यते—

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति ॥ मध्ये
वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते ॥ ३ ॥

ऊर्ध्वं हृदयात्प्राणं प्राणवृत्तिं वायुमुन्नयत्यूर्ध्वं गमयति । तथाऽपानं प्रत्यगधोऽस्यति क्षिपति य इति वाक्यशेषः । तं मध्ये हृदयपुण्डरीकाकाश[3] आसीनं बुद्धावभिव्यक्तविज्ञानप्रकाशनं वामनं संभजनीयं सर्वे विश्वे देवाश्चक्षुरादयः प्राणा रूपादिविज्ञानं बलिमुपाहरन्तो विश इव राजानमुपासते तादर्थ्येनानुपरतव्यापारा भवन्तीत्यर्थः । यदर्था यत्प्रयुक्ताश्च सर्वे वायुकरणव्यापाराः सोऽन्यः सिद्ध इति वाक्यार्थः ॥३॥

---

आ० टी०—येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्य इति या पूर्वं विचिकित्सा प्रश्नमूलत्वेनोद्भाविता साऽपि निर्मूलेत्येतद्दर्शयितुं देहव्यतिरिक्तात्मास्तित्वं साधयति - आत्मनः स्वरूपाधिगम इत्यादिना । सर्वे प्राणकरणव्यापाराश्चेतनार्थास्तत्प्रयुक्ता भवितुमर्हन्ति जडचेष्ट( ष्टा )त्वाद्रथचेष्टावदित्यर्थः ॥ ३ ॥

---

गो० टी०—येयं प्रेत इति या पूर्वं विचिकित्सा प्रश्नमूलत्वेनोद्भाविता साऽपि निर्मूलेत्येतद्दर्शयितुं देहव्यतिरिक्तास्तित्वमात्मनः साधयति- आत्मनः स्वरूपाधिगम इत्यादिना । बुद्धेः प्राधान्येन हृदयाकाशवृत्तित्वात्तत्राभिव्यक्त आत्माऽऽसीन इत्युक्त इत्याह—हृदयेति । संभजनीयं मुमुक्षुभिरिति शेषः । उपासत इत्यस्य तात्पर्यमाह—तादर्थ्येनेति । आत्मार्थत्वेनानुपरतव्यापाराः कार्याभिव्यक्तिकाल इति शेषः ।

---

१ घ. °पावन° । २ घ. °काशे वा° । ३ क. °यं विश्वे स° । ग. ङ. य सर्वे विश्व ।

यद्वर्था इत्यनेनानुमानं सूचितम् । तथा हि सर्वे प्राणकरणव्यापाराश्चेतनार्थास्तत्प्रयुक्ताश्च भवितुमर्हन्ति जडचेष्टात्वाद्रथादिचेष्टावदिति । अन्यः प्राणेभ्य इति शेषः ॥३॥

किंच—

**अस्य विस्रंसमानस्य शरीरस्थस्य देहिनः । देहाद्विमुच्यमानस्य किमत्र परिशिष्यते । एतद्वै तत् ॥४॥**

अस्य शरीरस्थस्याऽऽत्मनो विस्रंसमानस्यावस्रंसमानस्य[१] भ्रंशमानस्य देहिनो देहवतः । विस्रंसनशब्दार्थमाह—देहाद्विमुच्यमानस्येति । किमत्र परिशिष्यते प्राणादिकलापे[३] न किंचन परिशिष्यतेऽत्र देहे पुरस्वामि[४]विद्रवण इव पुरवासिनां[५] यस्याऽऽत्मनोऽपगमे[६] क्षणमात्रात्कार्यकरण[७]कलापरूपं सर्वमिदं हतबलं विध्वस्तं भवति विनष्टं भवति सोऽन्यः सिद्धः ॥ ४ ॥

आ० टी०—शरीरं चेतनशेषं तद्विगमे भोगानर्हत्वाद्राजपुरवदित्यर्थः । किं चास्येति * ॥ ४ ॥

गो० टी०—करणव्यतिरेकं साधयित्वा कार्यव्यतिरेकमाह—किंचेति । पौनरुक्त्यं परिहरति—विस्रंसनेति । विमुच्यमानस्य प्रारब्धक्षय इति शेषः । प्राणादिकलाप इति । कार्यकरणसंघात इत्यर्थः । यथा पुरस्वामिनो राज्ञोऽपगमे पुरवासिनो जना अन्यत्राप्यागच्छन्ति तद्वत्प्राणादय इति दृष्टान्तेनाऽऽत्मनो व्यतिरेकं साधयति—अत्र देह इत्यादिना । हतबलमिति । चेतना चैतन्यस्य सामान्यवृत्तिः संघातस्य बलं तच्छून्यमित्यर्थः । अत एवाधः पततीत्याह—विध्वस्तमिति । अनेनेदमनुमानं सूचितम्—शरीरं चेतनशेषं तद्विगमे भोगानर्हत्वाद्राजपुरवदिति ॥ ४ ॥

स्यान्मतं प्राणापानाद्यपगमादेवेदं विध्वस्तं भवति न तु[८] तद्व्यतिरिक्तात्मापगमात्प्राणादिभिरेव[९] हि मर्त्यो जीवतीति । नैतदस्ति—

**न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन । इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ ॥ ५ ॥**

* शरीरमित्यादिग्रन्थात्पूर्वं लिखितुं योग्यमेतत् । किंचेतत्प्रतीकस्थाने विध्वस्तमितीतिप्रतीकग्रहणमुचितं भाति ।

१ क. ख. ञ. ट. °नस्य भ्रं° । २ क. ग. च. °स्य भ्रश्यमा° । घ. ङ. ठ. °स्य दे° । ३ ख. ञ. ट. °लापो न । ४ घ. स्वामीव । ५ क. च. °मिनि वि° । ञ. ज. °मिनो वि° । ६ ग. ङ. °सिनो य° । ७ क. ख. ट °र्यकार° । ८ क. ख. ग. घ. ङ. च. ज. ठ. तु व्यति° । ९ क. ख. ज. °रेवेह म° ।

न प्राणेन नापानेन चक्षुरादिना वा[1] मर्त्यो मनुष्यो देहवान्कश्चन जीवति[2] न कोऽपि जीवति । न ह्येषां परार्थानां संहत्यकारित्वाज्जीवनहेतुत्वमुपपद्यते । स्वार्थेनासंहतेन परेण केनचिदप्रयुक्तं संहतानामवस्थानं न दृष्टं गृहादीनां[3] लोके तथा प्राणादीनामपि संहतत्वाद्भवितुमर्हति । अत इतरेणैव संहतप्राणादिविलक्षणेन तु सर्वे संहताः सन्तो जीवन्ति प्राणान्धारयन्ति । यस्मिन्संहतविलक्षण आत्मनि सति परस्मिन्नेतौ प्राणापानौ[4] चक्षुरादिभिः संहतावुपाश्रितौ, यस्यासंहतस्यार्थे प्राणापानादिः[5] स्वव्यापारं[6] कुर्वन्वर्तते संहतः सन्स ततोऽन्यः सिद्ध इत्यभिप्रायः ॥५॥

आ० टी०—अन्यथासिद्धिं शङ्कते—स्यान्मतमिति । ननु जीव प्राणधारण इति धातुस्मरणाच्छरीरस्य जीवनं नाम प्राणधारणं प्राणसंयोगश्च प्राणधारणं कुण्डे दधिधारणवत्तत्र च प्राणस्यैव हेतुत्वं संयोगाश्रयत्वात् । कथमुच्यते जीवनहेतुत्वं प्राणादीनां न संभवतीति तत्राऽऽह—स्वार्थेनासंहतेनेति । कादाचित्कस्य प्राणशरीरसंयोगस्य स्वभावतोऽनुपपत्तेः संघातस्य च लोके परप्रयुक्तस्यैव दर्शनाद्भवितव्यमन्येन संघातप्रयोजकेनेत्यर्थः ॥ ५ ॥

गो० टी०—हेतोरन्यथासिद्धिं शङ्कते—स्यान्मतमिति । तद्व्यतिरिक्तेतिशब्दः प्राणादिव्यतिरिक्तार्थः, अन्वयमुक्त्वा व्यतिरेकमाह—प्राणादिभिरेवेति । लोकप्रसिद्ध्यर्थको हिशब्दः । शङ्कासमाप्तिद्योतक इतिशब्दः । शङ्कोत्तरत्वेन वाक्यं योजयति—नैवदिति । एतत्प्राणाद्यपगमाच्छरीरस्य हतबलत्वम् । प्राणेनापानेन वा न जीवति चेच्चक्षुरादिना जीविष्यतीत्याशङ्क्य तयोर्ग्रहणमुपलक्षणार्थमित्याह—चक्षुरादिनेति । न जीवतीत्यत्र हेतुमाह—न हीति । संहत्य मिलित्वा कारित्वात्कार्यजनकत्वाच्चैतन्यसंबन्धमन्तरेण न जीवनहेतुत्वसंभव इत्यर्थः । जीव प्राणधारण इति धातुस्मरणाच्छरीरस्य जीवनं नाम प्राणधारणं तत्संयोगश्च धारणं कुण्डे दधिधारणवत्तत्र प्राणस्यैव हेतुत्वं, कथमुच्यते जीवनहेतुत्वं प्राणादीनां न संभवतीति तत्राऽऽह—स्वार्थेनेति । स्वप्रयोजनोद्देशेनेत्यर्थः । [7]असंहतेन गृ(गृ)हपदार्थाप्रविष्टेन । संहतानां संघातापत्तिप्राप्तानाम् । दृष्टान्तमुक्त्वा दार्ष्टान्तिकमाह—तथेति । कादाचित्कस्य प्राणशरीरसंयोगस्य स्वभावतोऽनुपपत्तेः संघातस्य च लोके परप्रयुक्तस्य दर्शनाद्भवितव्यमन्येन संघातस्य प्रयोजकेनेत्यर्थः । अत इति संहतत्वं परामृश्यते । उपाश्रितपदस्यार्थकथनपूर्वकं तात्पर्यार्थमाह—यस्येति । संहतः सन्प्राणापानादिरित्यन्वयः ॥ ५ ॥

१ ख. ज. °वा मनु° । २ ग °ति । न ह्ये° । ३ क. °ष्टं यथा गृ° । ४ ग. ङ. च. झ. ञ. ट. °स्यार्थे प्रा° । ५ क. ज. °दिः सर्वव्या° । ६ ख. स्वस्वव्या° । झ. ञ. ट. स्वस्वव्या° । ७ झ. ञ. ट. असंहतः ।

हन्त त इदं प्रवक्ष्यामि गुह्यं ब्रह्म सनातनम् ।
यथा च मरणं प्राप्य आत्मा भवति गौतम ॥ ६ ॥

हन्तेदानीं पुनरपि ते तुभ्यमिदं गुह्यं[1] गोप्यं ब्रह्म सनातनं चिरंतनं प्रवक्ष्यामि । यद्विज्ञानात्सर्वसंसारोपरमो भवति, अविज्ञानाच्च यस्य मरणं प्राप्य यथाऽऽत्मा[2] भवति यथा संसरति[3] तथा शृणु हे गौतम ॥६॥

आ० टी०—येयं प्रेत इति प्रष्टु. परलोकेऽस्तित्वेऽपि संदेह आसीद्विशेषतस्तन्निवृत्त्यर्थमुच्यत इत्याह—हन्तेदानीमिति ॥ ६ ॥

गो० टी०—येयं प्रेत इति प्रष्टुः परलोकास्तित्वेऽपि संदेह आसीत् । विशेषतस्तन्निवृत्त्यर्थमुच्यत इत्याह—हन्तेदानीमिति । जीवः संसरतीत्यर्थे चशब्दार्थं हेतुं व्याचष्टे—यद्विज्ञानादिति । यस्याविज्ञानादिति संबन्धः ॥ ६ ॥

योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः ।
स्थाणुमन्येऽनुसंयन्ति यथाकर्म यथाश्रुतम् ॥ ७ ॥

योनिं योनिद्वारं शुक्रबीजसमन्विताः सन्तोऽन्ये केचिदविद्यावन्तो मूढाः[4] प्रपद्यन्ते[5] शरीरत्वाय शरीरग्रहणार्थं देहिनो देहवन्तः, योनिं प्रविशन्तीत्यर्थः । स्थाणुं वृक्षादिस्थावरभावमन्येऽत्यन्ताधमा मरणं प्राप्यानुसंयन्त्यनुगच्छन्ति । यथाकर्म यद्यस्य कर्म तद्यथाकर्म[6] यैर्यादृशं कर्मेह जन्मनि कृतं तद्वशेनेत्येतत् । तथा च यथाश्रुतं यादृशं च विज्ञानमुपार्जितं तदनुरूपमेव शरीरं प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः । यथाप्रज्ञं हि संभवा इति श्रुत्यन्तरात् ॥ ७ ॥

आ० टी०—॥ ७ ॥

गो० टी०—अविद्यावत्त्वादविवेकिन इत्याह—मूढा इति । देहिन इति विशेषणादसकृद्देहग्रहणं तत्प्रापककर्मानुष्ठानं च सूच्यते । तात्पर्यार्थमाह—योनिमिति । अत्यन्ताधमा इति महापातकिनो गृह्यन्ते । अनुगच्छन्तीति प्राप्नुवन्तीत्यर्थः । उक्तमर्थं स्पष्टयति—यैरिति । विज्ञानमुपासनं नग्नस्त्रीदर्शनादि च । यथाविज्ञानं शरीरग्रहणे प्रमाणमाह—यथेति । प्रज्ञामनतिक्रम्य यथाप्रज्ञम् । संभवन्त्युत्पद्यन्त इति संभवाः प्रजा इति शेषः ॥ ७ ॥

१ ग. घ. च. 'ह्यं ब्रह्म गोप्यं स' । २ क. ख. ञ. यथा चाऽऽत्मा । ३ घ. 'ति सं' । ४ ग. घ. मूढा अवप' । ५ च. 'द्यन्तेऽवपद्यन्ते श' । ६ ट. तत्तथा' । ७ घ. कर्म ज' ।

यत्प्रतिज्ञातं गुह्यं ब्रह्म[1] वक्ष्यामीति तदाह—

**य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः । तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते । तस्मिँल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन । एतद्वै तत् ॥ ८ ॥**

य एष सुप्तेषु प्राणादिषु जागर्ति न स्वपिति । कथम् । कामं कामं तं तमभिप्रेतं स्त्र्याद्यर्थमविद्यया निर्मिमाणो निष्पादयञ्जागर्ति पुरुषो[2] यस्तदेव शुक्रं शुभ्रं शुद्धं तद्ब्रह्म नान्यद्गुह्यं ब्रह्मास्ति । तदेवामृतमविनाश्युच्यते सर्वशास्त्रेषु । किंच पृथिव्यादयो लोकास्तस्मिन्नेव सर्वे ब्रह्मण्याश्रिताः सर्वलोककारणत्वात्तस्य । तदु नात्येति कश्चनेत्यादि पूर्ववदेव ॥८॥

आ० टी०——॥ ८ ॥

गो० टी०—प्रसङ्गादागतं परिसमाप्य प्रकृतप्रतिपादनपरमुत्तरं वाक्यमित्याह—यत्प्रतिज्ञातमिति । सुप्तेषु प्रलीनेषु प्राणेष्व(प्राणादिष्व)न्तःकरणव्यतिरिक्तेषु । अन्यथा साक्षिणः संनिधिमात्रेण कामाद्याकारपरिणाम्यन्तःकरणमेरणानुपपत्तेरिति । काम्यत इति कामस्तम् । अविद्यया निद्रान्तःकरणरूपेणाभिव्यक्तया । य इत्यन्वयार्थं पुनरुच्यते । तद्ब्रह्मेत्यत्रैवकारानुषङ्गं सिद्धवत्कृत्य व्यावर्त्यमाह—नान्यदिति । स्वप्नावस्थायामतिस्फुटं साक्षिणः सकाशादन्यद्भिन्नं गुह्यं गोप्यतमं ब्रह्म परिवृढं नास्तीत्यर्थः । तद्ब्रह्माविनाशीति क्वोच्यत इत्याकाङ्क्षायामाह—सर्वेति । सर्ववेदान्तेष्वित्यर्थः । भूरादिलोकानां प्रकृतब्रह्माश्रितत्वे हेतुमाह—सर्वलोकेति । पूर्ववदिति । तदेतत्सर्वात्मकं ब्रह्म, उ एव नात्येति नातिक्रामतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

अनेकतार्किककु[3]बुद्धिविचालितान्तःकरणानां प्रमाणोपपन्नमप्यात्मैकत्वविज्ञानमसकृदुच्यमानमप्यनृ[4]जुबुद्धीनां ब्राह्मणानां चेतसि नाऽऽधीयत इति तत्प्रतिपादन आदरवती[5] पुनः पुनराह श्रुतिः—

**अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव । एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥ ९ ॥**

१ क. ख. ङ. 'प्रवक्ष्यामि त' । २ क. 'रुषस्त' । ३ क. ख. ग. घ. ङ. ज. ट. ठ. 'कबुद्धिचा' । ४ घ. 'नमृजु' । ५ क. ख. ज. 'ती श्रुतिः पुनः पुनराह । अ' ।

अग्निर्यथैक एव प्रकाशात्मा सन्भुवनं भवन्त्यस्मिन्भूतानीति भुवनमयं लोकस्तमिमं प्रविष्टोऽनुप्रविष्टः । रूपं रूपं दार्वादिदाह्यभेदं प्रतीत्यर्थः । प्रतिरूपस्तत्र तत्र प्रतिरूपवान्दाह्यभेदेन बहुविधो बभूव । एक एव तथा सर्वभूतान्तरात्मा सर्वेषां भूतानामभ्यन्तर आत्माऽतिसूक्ष्मत्वाद्दार्वादिष्विव सर्वदेहं प्रति प्रविष्टत्वात्प्रतिरूपो बभूव बहिश्च स्वेनाविकृतेन [ स्व ] रूपेणाऽऽकाशवत् ॥ ९ ॥

---

आ० टी०—जन्ममरणकरणानां प्रति[प्राणि]नियमाद्युगपत्प्रवृत्तेश्च पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चेति नानात्मानो व्यवस्थिता इत्यनेकतार्किकबुद्धिविरोधात्सर्वपुरवर्त्येक एवाऽऽत्मेत्यत्र न चित्तस्थैर्यं संभवतीत्याशङ्क्यौपाधिकभेदसाधने सिद्धसाधनं स्वाभाविकभेदसाधने चानैकान्तिकत्वं दर्शयितुं प्रक्रमत इत्याह—अनेकतार्किकेत्यादिना । प्रतिरूप उपाधिसदृशश्चतुष्कोणत्वादिधर्मके हि दारुणि तद्रूपो वह्निरपि लक्ष्यत इत्यर्थः ॥ ९ ॥

---

गो० टी०—ननु जन्ममरणकारणानां प्रतिप्राणिनियमाद्युगपत्तेषामप्रवृत्तेश्च पुरुषबहुत्वं सिद्धं सत्त्वरजस्तमोगुणानां वैपरीत्याच्च नानात्मानो व्यवस्थिता इत्यनेकतार्किकबुद्धिविरोधात्सर्वपुरवर्त्येक आत्मेत्यत्र न चित्तस्थैर्यं संभवतीत्याशङ्क्यौपाधिकभेदसाधने सिद्धसाधनत्वं स्वभावभेदसाधने चानैकान्तिकत्वं दर्शयितुं प्रक्रमत इत्याह—अनेकतार्किकेत्यादिना । अनेके कुतार्किकाः पाखण्डाश्च तर्कागमावष्टम्भास्तदधीना या बुद्धिस्तयाऽऽकलितमाकुलितमन्तःकरणं येषां ते तथा तेषामित्यर्थः । अनेकतार्किकबुद्धिविचालितान्तःकरणानामिति पाठे तार्किका एव कुबुद्धयस्तैः स्वमनोऽभ्यासादिना विचालितं श्रेयोमार्गादन्तःकरणं येषां ते तथा तेषामित्यर्थः । प्रमाणोपपन्नं तत्त्वमस्यादिवाक्यप्रतिपाद्यम् । प्रत्यग्ब्रह्मैक्यरूपविज्ञानमात्मैकत्वविज्ञानम् । प्रमाणेऽभ्यासादिलिङ्गसाहित्यं दर्शयति—असकृदिति । अनृजुबुद्धीनामिति पूर्वषष्ठ्यर्थे हेतुः । नाऽऽधीयते सम्यग्विज्ञानात्मकवृत्त्याऽऽरूढं न भवतीत्यर्थः । ऋजुबुद्धीनां ब्राह्मणानां चेतसीवेति पाठो व्यतिरेकदृष्टान्तार्थः । तत्प्रतिपादने विज्ञप्तिस्वभावप्रत्यग्ब्रह्मप्रतिपादने । आदरवती तात्पर्यवती । *दाह्यभेदं काष्ठादिविशेषम् । प्रतिरूप इति उपाधिरूपेण प्रतीयमानः, चतुष्कोणत्वादिधर्मके हि दारुणि तद्रूपे वह्निरपि लक्ष्यत इत्यर्थः । तत्र तत्र

---

* भाष्ये दार्वादिदाह्यभेदमित्यत्र दाह्यभेदमित्येतत्पाठानुरोधेनेदम् । तथा पाठोऽपि स्यात्क्वचिदित्यनुमीयते ।

---

१ च. °ष्टः । रूपं प्र° । २ च °रूपः, तत्र प्र° । ३ ग. घ. ङ. च. झ. ञ. °दे बभू° । ४ क. ख. ज. °त्मा रूपं रूपं स° । ५ ङ. ट. ठ. °णावस्त्र् । ६ ठ. पाषण्डा° ।

र्वादौ दाह्यभेदेन दार्वादिविशेषेण । दृष्टान्तमुक्त्वा दार्ष्टान्तिकमाह—एक एवेति । अभ्यन्तरत्वेऽतिसूक्ष्मत्वं हेतुः । सदृष्टान्तं रूपं रूपमित्यादि व्याचष्टे—दार्वादिवि- त्याद्विना । रूपं रूपमित्यस्य सर्वदेहमिति व्याख्यानम् । विकारे प्रविष्टस्य विकृ- तिमाशङ्क्य बहिश्चेति पदेन परिहार इत्याह—बहिश्चेति । स्वेनाविकृतेन स्वरूपे- णासंस्पृष्टस्वरूपेणेत्यर्थः ॥ ९ ॥

तथाऽन्यो दृष्टान्तः—

वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो
बहिश्च ॥ १० ॥

वायुर्यथैक इत्यादि । प्राणात्मना देहेष्वनुप्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूवेति स ( वेत्यादि स ) मानम् ॥ १० ॥

अ० टी०— ॥ १० ॥

गो० टी०—वायोरस्मिँल्लोके कथं प्रवेशो दार्वादिष्वनुपलम्भादित्याशङ्क्याऽऽह— प्राणात्मनेति । इत्यादि समानमिति । एकस्तथेत्यादिवाक्यव्याख्यानं पूर्ववदि- त्यर्थः ॥ १० ॥

एकस्य सर्वात्मत्वे संसारदुःखित्वं परस्यैव तदिति प्राप्तमत इदमुच्यते—

सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बा-
ह्यदोषैः । एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते
लोकदुःखेन बाह्यः ॥ ११ ॥

सूर्यो यथा चक्षुष आलोकेनोपकारं कुर्वन्मूत्रपुरीषाद्यशुचिप्रकाशनेन तद्दर्शिनः सर्वलोकस्य चक्षुरपि सन्न लिप्यते चाक्षुषैरशुच्यादिदर्शन- निमित्तैराध्यात्मिकैः पापदोषैर्बाह्यैश्चाशुच्यादिसंसर्गदोषैः । एकः संस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः । लोको ह्यविद्यया स्वात्मन्यध्यस्तया कामकर्मोद्भवं दुःखमनुभवति । न तु सा परमार्थतः स्वात्मनि । यथा रज्जुशुक्तिकोषरगगनेषु । सर्परजतोदकमलानि न रज्ज्वादीनां स्वतो दोषरूपाणि सन्ति । संसर्गिणि विपरीतबुद्ध्यध्या- सनिमित्तात्तद्दोषवद्विभाव्यन्ते । न तद्दोषैस्तेषां लेपो विपरीतबुद्ध्यध्या-

१ क. ख. ज. 'त्मकत्वे । २ ग. घ. च. 'खित्वे प' । ३ ख ग. घ. ङ. च. छ. झ. ञ. ट. 'मात इ' । ४ क. ग. ञ. 'कोषर' । ५ ग. 'रीते बुद्ध्यध्यासनिमित्तत्वात्त' । ६ ख. 'ध्यासे विप- रीतत्वात्त' । ७ क. च. ज. 'मित्तत्वात्त । ८ ख. ग. घ. च. 'षां लोपो ।

सबाह्या हि ते । तथाऽऽत्मनि सर्वो लोकः क्रियाकारकफलात्मकं विज्ञानं सर्पादिस्थानीयं विपरीतमध्यस्य तन्निमित्तं जन्ममरणादिदुःखमनुभवति न त्वात्मा सर्वलोकात्माऽपि सन्विपरीताध्यारोपनिमित्तेन लिप्यते लोकदुःखेन । कुतः । बाह्यः । रज्ज्वादिवदेव विपरीतबुद्ध्यध्यासबाह्यो हि स इति ॥ ११ ॥

आ० टी०—परमात्मा दुःखी स्याद्दुःखा(ख्य)भिन्नत्वाल्लोकवदित्याह—एकस्य सर्वात्मकत्व इति । अविद्यायां प्रतिबिम्बितश्चिद्धातुरज्ञो भ्रान्तो भवति । भ्रान्तश्च कामादिदोषप्रयुक्तः कर्म कुरुते तन्निमित्तं च दुःखं स्वात्मन्यध्यस्यति । परमात्मा तु निरविद्यत्वाद्दुःखसाधनशून्यत्वान्न दुःखी ततो न प्रयोजको हेतुरित्याह—लोको ह्यविद्ययेति । स्वरूपेण भ्रमाविषयत्वं विपरीतबुद्ध्यध्यासबाह्यत्वं रज्ज्वादीनां तथा चैतन्यस्योपाधिस्वरूपेणाध्यासाश्रयत्वे पि निरुपाधिकबिम्बकल्पब्रह्मरूपेणाध्यासानाश्रयत्वान्न दुःखित्वप्राप्तिरित्यर्थः ॥ ११ ॥

गो० टी०—ननु परमात्मा दुःखी स्याद्दुःख्यभिन्नत्वाल्लोकवदित्याह—एकस्य सर्वात्मत्व इति । तमेव परमात्मानमेव । परस्यैवेत्यपि पाठः । इदमुच्यते दृष्टान्तपूर्वकमुत्तरमुच्यते । अविद्यायां प्रतिबिम्बितश्चिद्धातुरज्ञो भ्रान्तो भवति भ्रान्तश्च कामादिदोषप्रयुक्तः कर्म कुरुते तन्निमित्तं च दुःखं स्वात्मन्यध्यवस्यति, परमात्मा तु निरवद्यत्वाद्दुःखसाधनशून्यत्वान्न दुःखी ततोऽप्रयोजको हेतुरित्याह—लोको ह्यविद्ययेति । स्वरूपेण भ्रमाविषयत्वं विपरीतबुद्ध्यध्यासबाह्यत्वं रज्ज्वादीनां यथा तथा चैतन्यस्याप्युपाधिस्थतारूपेणाध्यासाश्रयत्वेऽपि निरुपाधिकबिम्बकल्पब्रह्मरूपेणाध्यासानाश्रयत्वान्न दुःखित्वप्राप्तिरित्यर्थः । विपरीतबुद्ध्यारोपनिर्मितेन लोकदुःखेन न लिप्यत इत्यन्वयः । तत्राऽऽकाङ्क्षापूर्वकं हेतुमाह—कुत इत्यादिना । इति यस्मात्तस्मान्न लिप्यत इत्यन्वयः ॥ ११ ॥

किंच—

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति । तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम् ॥ १२ ॥

स हि परमेश्वरः सर्वगतः स्वतन्त्र एको न तत्समोऽभ्यधिको वाऽन्योऽस्ति । वशी सर्वं ह्यस्य जगद्वशे वर्तते । कुतः । सर्वभूतान्तरात्मा ।

१ क. 'न्मजराम' । २ ङ. झ. ञ. ट. 'रणदुः' । ३ क. बाह्यो बहिष्कृतो बाह्यो र' झ. ञ. ट. बाह्यर' । ४ क. ख. ञ. हि सः ॥ ११ ॥

यत एकमेव सदेकरसमात्मानं विशुद्धविज्ञानरूपं नामरूपाद्यशुद्धोपाधिभेदवशेन बहुधाऽनेकप्रकारं यः करोति स्वात्मसत्तामात्रेणाचिन्त्यशक्तित्वात् । तमात्मस्थं स्वशरीरहृदयाकाशे बुद्धौ चैतन्याकारेणाभिव्यक्तमित्येतत् । न हि शरीरस्याऽऽधारत्वमात्मनः । आकाशवदमूर्तत्वात् । आदर्शस्थं मुखमिति यद्वत् । तमेतमीश्वरमात्मानं ये निवृत्तबाह्यवृत्तयोऽनुपश्यन्ति आचार्यागमोपदेशमनु साक्षादनुभवन्ति धीरा विवेकिनस्तेषां परमेश्वरभूतानां शाश्वतं नित्यं सुखमात्मानन्दलक्षणं भवति नेतरेषां बाह्यासक्तबुद्धीनामविवेकिनां स्वात्मभूतमप्यविद्याव्यवधानात् ॥ १२ ॥

आ० टी० — परोत्कर्षदर्शनं पारतन्त्र्यं च स्वस्य हीनत्वं दुःखकारणं प्रसिद्धं तदभावान्न परमात्मा दुःखी ततस्तत्प्राप्तिः परः पुरुषार्थो भविष्यतीत्याह — किं च स हीत्यादिना ॥ १२ ॥

गो० टी० — स्वापेक्षया परस्योत्कर्षदर्शनं पारतन्त्र्यं च स्वस्य हीनत्वं दुःखकारणं प्रसिद्धं लोके तदभावान्न परमात्मा दुःखी ततस्तत्प्राप्तिः परमपुरुषार्थो भविष्यतीत्याह — किंच स हीत्यादिना । हिशब्दो न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यत इतिश्रुतिप्रसिद्धत्वद्योतनार्थः । वशित्वे हेतुमाह — कुत इत्यादिना । अन्तरात्मत्वे हेतुत्वेनोत्तरवाक्यं व्याचष्टे — यत इत्यादिना । स्वात्मसत्तामात्रेणोपाधिभेदमादाय बहुधाकरणे हेतुमाह — अचिन्त्येति । यत एवं करोत्यतः सर्वभूतान्तरात्मा यस्तमित्यन्वयः । नन्वात्मशब्दः शरीरवाच्यप्यतस्तत्स्थत्वं किमिति न व्याख्यायत इत्यत आह — न हीति । तर्हि तत्स्थत्वव्यवहारः कथमित्याशङ्क्याऽऽदर्शे प्रतीतिमात्रेणाऽऽदर्शस्थमुखमितिवच्छरीरस्थ इत्युपचर्यत इत्याह — आदर्शस्थमित्यादिना । तमात्मस्थमिति तत्त्वंपदयोः सामानाधिकरण्यादैक्यं विवक्षित्वाऽऽह — त[ मेत ]मीश्वरमात्मानमिति । निवृत्ता बाह्येभ्यो विषयेभ्यो वृ( वृत्तिर्हि )र्येषां ते तथा । उपाधिबहुत्वाभिप्रायेण बहुवचनं नाऽऽत्मापेक्षयेत्याह — परमेश्वरभूतानामिति । बाह्यासक्तबुद्धीनां बाह्येषु विषयेष्वासक्ता बुद्धिर्येषां तेषाम् । स्वात्मभूतमपीति । सुखमित्यनुवर्तते । अविदुषामात्मभूतं सुखं नेत्यत्र हेतुमाह -- अविद्याव्यवधानादिति ॥ १२ ॥

किंच --

नित्योऽनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो

१ क. ध. सदेक°। २ क. °हुधा बहुप्रकारेण यः । ख. ञ. °हुधा बहुप्रकारं यः । ३ क. ङ. झ. ञ. ट. शरीरस्थमु° । ४ ग. घ. च. °श्वरात्मा° । ५ ख. छ. झ. ञ. नित्यो नि° ।

विदधाति कामान् । तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा-
स्तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम् ॥ १३ ॥

नित्योऽविनाश्यनित्यानां विनाशिनाम् । चेतनश्चेतनानां चेतयितॄणां ब्रह्मादीनां प्राणिनामग्निनिमित्तमिव दाहकत्वमनग्नीनामुदकादीनामात्मचैतन्यनिमित्तमेव चेतयितृत्वमन्येषाम् । किंच स सर्वज्ञः सर्वेश्वरः कामिनां संसारिणां कर्मानुरूपं कामान्कर्मफलानि स्वानुग्रहनिमित्तांश्च कामान्य एको बहूनामनेकेषामनायासेन विदधाति[3] प्रयच्छतीत्येतत् । तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां शान्तिरुपरतिः शाश्वती नित्या स्वात्मभूतैव स्यान्नेतरेषामनेवंविधानाम् ॥ १३ ॥

आ० टी०—इदानीं परमात्मन्युपपत्तिप्रदर्शनार्थमाह—किंच नित्य इति । सूर्यचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयदित्यादिश्रुतेरकृताभ्यागमकृतविप्रणाशप्रसङ्गपरिहाराच्च कल्पान्तरीयभावानां प्रलीनानां कल्पान्तरे सजातीयरूपेणोत्पादः प्रतीयते स तदा स्याद्यदि विनाशिनां भावानां शक्तिशेषो लयः स्यात् । ततः प्रलये विनश्यत्सर्वं यत्र शक्तिशेषं विलीयते सोऽभ्युपगन्तव्य इत्यर्थः । बुद्धिमतामपि ब्रह्मेन्द्रादीनां परमानन्दाभिमुख्यं हित्वा या बहिर्मुखा चेतनोपलभ्यते साऽपि नियन्तारं गमयतीत्याह—चेतनश्चेतनानामिति । ब्रह्मादिशब्दवाच्यानां संघातानां वा चेतयितृत्वं यच्चैतन्यनिमित्तं सोऽस्ति पर आत्मेत्यर्थः । विमतं कर्मफलं तत्स्वरूपाद्यभिज्ञेन दीयमानं व्यवहितफलत्वात्सेवाफलवदित्याह—किंच स इति ॥ १३ ॥

गो० टी०—इदानीं परमात्मन्युपपत्तिप्रदर्शनार्थमाह—किंचेति । सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयदितिश्रुतेरकृताभ्यागमकृतविप्रणाशप्रसङ्गपरिहाराय च कल्पान्तरीयभावानां प्रलीनानां कल्पान्तरे सजातीयरूपेणोत्पादः प्रतीयते स तदा स्याद्यदि विनाशिनां भावानां शक्तिशेषो लयः स्यात्ततः प्रलये विनश्यत्सर्वं यत्र शक्तिशेषं विलीयते सोऽभ्युपगन्तव्य इत्यनित्यानां नित्य इत्यस्यार्थः । बुद्धिमतामपि ब्रह्मेन्द्रादीनां परमानन्दाभिमुख्यं हित्वा बहिर्मुखा चेतनोपलभ्यते साऽपि नियन्तारं गमयतीत्याह—चेतनश्चेतनानामिति । अनग्नीनामुदकादीनामग्निनिमित्तं दाहकत्वं यथा तथाऽन्येषां ब्रह्मादीनां प्राणिनामात्मचैतन्यनिमित्तमेव चेतयितृत्वमित्यन्वयः । ब्रह्मादिसंघातानां चेतयितृत्वं यच्चैतन्यनिमित्तं सोऽस्ति परमात्मेत्यर्थः । विस्तृतं कर्मफलं कर्मस्वरूपाद्यभिज्ञेन दीयमानं भवितुम-

१ ख. घ. ज. °त्यानामवश्यानां° । ग. °त्यानाम् । चे° । २ क. ख. ज. स सर्वेश्वरः सर्वज्ञः का° । ३ क. ख. ङ. ज. °ति ददाति प्र° ।

इति व्यवहितफलत्वात्सेवाफलत्वादित्याह—किंच [स] सर्वज्ञ इति । ननु कर्मवशादेव तत्फलसिद्धेरीश्वरोऽकिंचित्कर इत्यत आह—स्वानुग्रहेति । कर्मणामीश्वरप्रसादद्वारा फलहेतुत्वान्न दोष इति भावः ॥ १३ ॥

तदेतदिति मन्यन्तेऽनिर्देश्यं परमं सुखम् । कथं नु तद्विजानीयां किमु[1] भाति[2] विभाति वा ॥ १४ ॥

यत्तदात्मविज्ञानं[3] सुखमनिर्देश्यं निर्देष्टुमशक्यं परमं प्रकृष्टं प्राकृतपुरुषवाङ्मनसयोरगोचरमपि सन्निवृत्तैषणा ये ब्राह्मणास्ते×यत्तदेतत्प्रत्यक्षमेवेति मन्यन्ते, कथं नु केन प्रकारेण तत्सुखमहं विजानीयाम् । इदमित्यात्मबुद्धिविषयमापादयेयं यथा निवृत्तैषणा यतयः । किमु तद्भाति दीप्यते प्रकाशात्मकं तद्यतोऽस्मद्बुद्धिगोचरत्वेन विभाति विस्पष्टं दृश्यते किंवा नेति[6] ॥ १४ ॥

आ० टी०—विद्वदनुभवोऽपि परमानन्दे प्रमाणमित्याह—यत्तदात्मविज्ञानमिति । तस्मादसंभावितत्तया न जिहासितव्यं परमात्मदर्शनं किंतु श्रद्दधानतया विचारयितव्यमेवेत्याह— कथं न्विति ॥ १४ ॥

गो० टी०—विद्वदनुभावोऽपि परमानन्दे प्रमाणमित्याह—यत्तदात्मविज्ञानमिति । तदात्मसुखं परम[म]निर्देश्यमप्येतदिति मन्यन्त इत्यन्वयः । के त इत्याकाङ्क्षायामाह—निवृत्तेति । त इति पदमध्याहर्तव्यम् । एतदित्यस्य प्रत्यक्षमेवेति व्याख्यानम् । विद्वत्प्रत्यक्षत्वादात्मसुखस्यासंभावितत्तया न जिहासितव्यं परमात्मदर्शनं किंतु श्रद्दधानतया विचारयितव्यमेवेत्याह—कथं न्विति । यथा निवृत्तैषणा यतयो विचारेणाऽऽत्मबुद्धिविषयात्मसुखमापादयन्ति तद्वदात्मसुखमात्मबुद्धिविषयं कथमापादयेयमिति विचारयितव्यमित्यर्थः । ननु वाङ्मनसातीतस्यासंभावितत्वेन प्रकाशमानत्वाभावात्कथं बुद्ध्यारोह इति शङ्कते—किम्विति । उ इति वितर्के । यत इति यदि यथा । स्वप्रकाशात्मकमात्मज्योतिस्तदस्मद्बुद्धिगोचरत्वेन विस्पष्टं दृश्यते किमित्यन्वयः । वाशब्दं व्याचष्टे—नेति । अथवा यतः प्रकाशात्मकं तदात्मज्योतिरतोऽस्मद्बुद्धिविषयत्वेन विस्पष्टं दृश्यते किमिति संबन्धः । वाशब्दं व्याचष्टे—किंवा नेति ॥ १४ ॥

× अत्र टीकानुरोधेन त इति पदमधिकम् ।

१ ख. ज. 'मु तद्भाति । २ छ. 'ति न भा' । ३ ग. घ. ङ. च. ज. झ. ञ. ढ. ठ. 'ज्ञानसु' । ४ क. ख. ज. 'स्ते तदे' । ५ ज. झ. ञ. 'तोऽतोऽस्म' । ६ क. ख च. ञ. 'ति ॥१४॥तत्रो' ।

अत्रोत्तरमिदं भाति च विभाति चेति । कथम्—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥ १५ ॥

इति काठकोपनिषदि द्वितीयाध्याये द्वितीया वल्ली समाप्ता ॥ २ ॥ ( ५ )।

न तत्र तस्मिन्स्वात्मभूते ब्रह्मणि सर्वावभासकोऽपि सूर्यो भाति तद्ब्रह्म न प्रकाशयतीत्यर्थः । तथा न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमस्मद्दृष्टिगोचरोऽग्निः । किं बहुना यदिदमादिकं सर्वं भाति तत्तमेव परमेश्वरं भान्तं दीप्यमानमनुभात्यनुदीप्यते । यथा जलोल्मुकाद्यग्निसंयोगादग्निं दहन्तमनु दहति न स्वतस्तद्वत् । तस्यैव भासा दीप्त्या सर्वमिदं सूर्यादि विभाति । यत एवं तदेव ब्रह्म भाति च विभाति च । कार्यगतेन विविधेन(?) भासा तस्य ब्रह्मणो भारूपत्वं स्वतोऽवगम्यते । न हि स्वतोऽविद्यमानं भासनमन्यस्य कर्तुं शक्यम् । घटादीनामन्यावभासकत्वादर्शनाद्भासनरूपाणां चाऽऽदित्यादीनां तद्दर्शनात् ॥ १५ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमदाचार्यश्रीशंकरभगवतः कृतौ काठकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयाध्याये द्वितीयवल्लीभाष्यं समाप्तम् ॥ २ ॥ ( ५ ) ।

---

आ० टी०—॥ १५ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचिते काठकोपनिषद्भाष्यव्याख्याने द्वितीयाध्याये द्वितीयवल्ली-भाष्यटीका समाप्ता ॥ २ ॥ ( ५ ) ।

---

गो० टी०—इदंशब्दव्याख्यानं भातीत्यादि । कुत इति । अल्पवीर्यत्वादित्यर्थः । जलं तप्तजलमुल्मुकमलातं तदादीत्यादिशब्देनायःपिण्डादि गृह्यते । ननु प्रकाशविशिष्टघटादेः स्ववृत्तिघटादिप्रकाशकत्वं दृष्टं तद्वदन्याधीनप्रकाशस्य ब्रह्मणः सूर्यादिप्रकाशत्वमित्याशङ्क्याऽऽह—न हीति । अविद्यमानेति पदच्छेदः । प्राप्तप्रविवे-

---

१ घ. ङ. झ. ञ. ट °स्मद्दोच° । २ ग. घ. ङ. च. झ. ञ. ट. ठ. °कं भा° । ३ क. ख.

प्रकाशस्यैव भासकत्वान्न स्वतो घटादेर्भासकत्वं तद्वदप्रकाशत्वे ब्रह्मणो नाऽऽदि-
दिप्रकाशकत्वं स्यादिति भावः ॥ १५ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्यश्रीमद्बालगोपालेन्द्रयतीश्वरविर-
चिते काठकोपनिषद्भाष्यविवरणे द्वितीयाध्याये द्वितीया
वल्ली समाप्ता ॥ २ ॥ ( ५ )।

---

तूलावधारणे[1]नैव मूलावधारणं वृक्षस्य क्रियते लोके यथैवं संसार-
कार्यवृक्षावधारणेन तन्मूलस्य ब्रह्मणः स्वरूपावदिधारयिषयेयं षष्ठी
वल्ल्यारभ्यते—

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ॥ तस्मिँ-
ल्लोकाः श्रिताः सर्वे तदु नात्येति कश्चन ।
एतद्वै तत् ॥ १ ॥

ऊर्ध्वमूल ऊर्ध्वं मूलं [2]यत्तद्विष्णोः परमं पदमस्येति सोऽयमव्यक्ता-
दिस्थावरान्तः संसारवृक्ष ऊर्ध्वमूलः[3]। वृक्षश्च[4] व्रश्चनात् । जन्मजरामरण-
शोकाद्यनेकानर्थात्मकः प्रतिक्षणमन्यथास्वभावो मायामरीच्युदकगन्धर्व-
नगरादिवद्दृष्टनष्टस्वरूपत्वादवसाने च वृक्षवदभावात्मकः कदलीस्तम्भ-
वन्निःसारोऽनेकशतपा[5]खण्डबुद्धिविकल्पास्पदस्तत्त्वविजिज्ञासुभि[6]रनिर्धा-
रितेदंतत्त्वो वेदान्तनिर्धारितपरब्रह्ममूलसारोऽविद्याकामकर्माव्यक्तबीज-
[7]प्रभवोऽपरब्रह्मविज्ञानक्रियाशक्तिद्वयात्मकहिरण्यगर्भाङ्कुरः सर्वप्राणि-
लिङ्गभेदस्क[8]न्धतृष्णाजलासेकोद्भूतदर्पो[9] बुद्धीन्द्रियविषयप्रवालाङ्कुरः
श्रुतिस्मृतिन्यायविद्योपदेशपलाशो यज्ञदानतपआद्यनेकक्रियासुपुष्पः सु-
खदुःखवेदनानेकरसः प्राण्युपजीव्यानन्तफलस्[10]तत्तृष्णासलिलावसेकप्ररू-
ढजडीकृतदृढबद्धमूलः सत्यनामादिसप्तलोकब्रह्मादिभूतप[11]क्षिकृतनीडः
प्राणिसुखदुःखोद्भूतहर्षशोकजातनृत्यगीतवादित्रक्ष्वेलितास्फोटितहसिता-
कृष्टरुदितहाहा[12]मुञ्चमुञ्चेत्याद्यनेकशब्दकृततुमुलीभूतमहारवो वेदान्तवि-

---

१ ङ. झ. ञ. ट. °णेन मू° । २ ङ. झ. ञ. ट. यद्वि° । ३ ग. घ. च. °लः, वृक्ष° । ४ क. ग. ङ. च. झ. ञ. ट. °श्च वृक्ष° । ५ क. ग. च. ट. °पाषण्ड° । ६ ङ. झ. ञ. ट. सुभिर्निर्धा° । ७ ख. ङ. °प्रभावोऽ° । ८ क. ख. ज. ञ. ट. ठ. °न्धस्तत्तत्तृष्णा° । ९ ग. ङ. च. ज. ञ. °बु° । १० घ. झ. ञ. ट. °स्तत्तत्° । ११ झ. ञ. पक्षीकृ° । १२ ङ. ठ. °हामुञ्चे ।

हितब्रह्मात्मदर्शनासङ्गशस्त्रकृतोच्छेद एष संसारवृक्षोऽश्वत्थोऽश्वत्थव-
त्कामकर्मवातेरितनित्यप्रचलितस्वभावः । स्वर्गनरकतिर्यक्प्रेतादिभिः
शाखाभिरवाक्शाखः । सनातनोऽनादित्वा[3]च्चिरं प्रवृत्तः । यदस्य संसा-
रवृक्षस्य मूलं तदेवं शुक्रं शुभ्रं शुद्धं ज्योतिष्मच्चैतन्यात्मज्योतिःस्वभावं
तदेव ब्रह्म सर्वमहत्त्वात् । तदेवामृतमविना[6]शस्वभावमुच्यते कथ्यते[7]
सत्यत्वात् । वाचाऽऽरम्भणं विकारो नामधेयमनृतमन्यदतो मर्त्यम् ।
तस्मिन्परमार्थसत्ये ब्रह्मणि लोका गन्धर्वनगरमरीच्युदकमायासमाः
परमार्थदर्शनाभावावगमनाः श्रिता आश्रिताः सर्वे समस्ता उत्पत्ति-
स्थितिलयेषु । तदु तद्ब्रह्म नात्येति नातिवर्तते मृदादिमिव घटादिकार्यं
कश्चन कश्चिदपि विकारः । एतद्वै तत् ॥ १ ॥

---

आ० टी०—शाल्मल्यादितूलदर्शनेनादृष्टमपि वृक्षमूलं यथाऽस्तीत्यवधार्यते तद्व-
दृष्टस्यापि ब्रह्मणोऽवधारणाय प्रक्रमत इत्याह—तूलावधारणेनेति । वृक्षशब्दे
प्रवृत्तिनिमित्तमाह—व्रश्चनादिति । ‘ व्रश्चू छेदने ’ अस्य धातोः सप्रत्ययान्तस्य रूपं
वृक्ष इति । छेद्यत्वे युक्तिमाह—जन्मजरेत्यादिना । प्रसिद्धवृक्षसाम्याद्वा वृक्षशब्द-
प्रयोग इत्यभिप्रेत्याऽऽह—अवसाने चेत्यादिना । प्रसिद्धो वृक्षः स्थाणुर्वा पुरुषो वेति
विकल्पास्पदो दृष्टस्तथाऽयमपि संघातो वा परिणामो वाऽऽरब्धो वा सद्वाऽसद्वेत्यादीना-
मनेकेषां शतसंख्याकपाखण्डबुद्धिविकल्पानां विषय इत्यर्थः । किंसंज्ञकोऽयं वृक्ष
इत्यनध्यवसायगोचरः कश्चिद्वृक्षो दृष्टस्तथाऽयमपीति साम्यम् । साम्यान्तरमाह—
तत्त्वविजिज्ञासुभिरिति । अपरब्रह्मणो विज्ञानक्रियाशक्तिद्वयात्मको हिरण्यगर्भः
प्रथमोऽवस्थाभेदोऽङ्कुरोऽस्येति तथोक्तः । बुद्धीन्द्रियाणां विषयाः शब्दादयः प्रवालाङ्कुराः
किसलयान्यस्येति स तथोक्तः । श्रुत्यर्थानि पलाशानि पत्राण्यस्येति । सुखदुःखे
प्राणिवेदना एवानेको रसोऽस्येति । फलतृष्णैव सलिलावसेकस्तेन प्ररूढानि कर्मवास-
नादीनि सात्त्विकादिभावेन मिश्रीकृतानि दृढबन्धनान्यवान्तरमूलान्यस्य वटवृक्षस्येव
तथोक्तः । सत्यनामादिषु सप्तलोकेषु ब्रह्मादीनि भूतान्येव पक्षिणस्तैः कृतं नीडं यस्मिन् ।
प्राणिनां सुखदुःखाभ्यामुद्भूतौ हर्षशोकौ ताभ्यां यथासंख्येन जातानि नृत्यादीनि
रुदितादिशब्दाश्चैतैः कृतस्तुमुलीभूतो महारवो यस्मिन्निति विग्रहः ॥ १ ॥

---

१ क. °ना कृतशास्त्रोच्छे° । २ क. ट. °ङ्गशास्त्र° । ३ क. ङ. च. ज. ञ. ट. ठ. °च्चिरप्र° ।
४ झ. ञ. ठ. °शुक्रं शु° । ५ घ. °त् । एवा° । ६ क. ख. ज. °नाशिस्व° । ७ ग. घ. ङ. च. °तेऽ°
स° । ८ क. °गम्यमानाः । ट. °गमाः श्रि° । ९ घ. °लयादिषु । १० झ. तदेत° । ११ क. ग.
ज. °दादिकमिव । घ °दादिवद्घटा° ।

गो० टी०—शाखमस्यादितूलदर्शनाददृष्टमपि वृक्षमूलं यथाऽस्तीत्यवधार्यते तद्वददृष्टस्यापि ब्रह्मणोऽवधारणाय प्रक्रमत इत्याह—तूलावधारणेनेति । स्वरूपावदिधारयिषया स्वरूपनिश्चयेच्छया । स्वरूपावधारणविषयेति पाठे विषयशब्दो निमित्तवाची । इयमन्तिमा वल्ली । ऊर्ध्वमित्युत्कृष्टमित्यर्थः । यद्विष्णोः परमं पदं तदस्य सोऽयमूर्ध्वमूल इत्यन्वयः । इदंशब्दार्थं स्फुटयति—अव्यक्तादीति । अव्यक्तमज्ञातचैतन्यमादिर्यस्य सोऽयं तथा, स्थावरो वृक्षादिरन्तरे यस्य सोऽयं तथा । स चासौ स चेति पुनः कर्मधारयः । संसार एव वृक्षः संसारवृक्षः । वृक्षशब्दप्रवृत्तिनिमित्तमाह—व्रश्चनादिति । ओव्रश्चू छेदन इत्यस्य धातोः सप्रत्ययान्तस्य रूपं वृक्ष इति । छेद्यत्वे युक्तिमाह—जन्मजरेत्यादिना । क्वचिदवच्छिन्नजन्मजरेत्यादिपाठष्टिप्पणकारैर्गृहीतः । जन्म च जरा च मरणं च शोकश्च त एवाऽऽदिर्येषां ते तथा । तेऽनेकेऽनर्था आत्मा स्वरूपं यस्य वृक्षस्य स तथा । अनेकानर्थात्मकत्वादेव प्रतिक्षणमन्यथास्वभावत्वं सात्त्विकराजसतामसवृत्तिभेदेनेत्याह—प्रतिक्षणमिति । प्रतिक्षणमन्यथास्वभावत्वे दृष्टान्तमाह—मायेत्यादिना । मायैन्द्रजालिकमाया । मायादिवत्प्रतिक्षणमन्यथास्वभावत्वे हेतुमाह—दृष्टेति । दृष्टं दर्शनं तत्समय एव प्रतीयते नोत्तरकालमित्यर्थः । अवयवार्थमादाय संसारो वृक्ष इत्युक्तम् । वृक्षसादृश्याद्वा वृक्षशब्दप्रयोगो भवति संसार इत्याह—अवसाने चेत्यादिना । चशब्दः पक्षान्तरद्योतकः । प्रसिद्धो वृक्षः स्थाणुर्वा पुरुषो वेतिविकल्पास्पदो दृष्टः । तथाऽयमपि संघातो वा परिणामो वाऽऽरब्धो वा न वेत्यादीनामनेकेषां शतसंख्याकपाषण्डबुद्धिविकल्पानामास्पद(दो) विषय इत्यर्थः । किंसंज्ञकोऽयं वृक्ष इत्यनध्यवसायगोचरः कश्चिद्वृक्षो दृष्टस्तथाऽयमपीति साम्यान्तरमाह—तत्त्वविजिज्ञासुभिरिति । स्वतोऽसारत्वे संसारस्य किं तस्य सारमित्यपेक्षायामाह—वेदान्तेति । वेदान्तैर्निर्धारितं परं ब्रह्मैव मूलं सारो यस्य स तथा । अविद्याऽध्यासः कामकर्माण्यव्यक्तमज्ञातचैतन्यमेतानि बीजं तस्मात्प्रभव उत्पत्तिर्यस्य स तथा । अपरस्य ब्रह्मणो विज्ञानक्रियाशक्तिद्वयात्मको हिरण्यगर्भः प्रथमोऽवस्थाभेदोऽङ्कुरोऽस्येति तथोक्तः । सर्वेषां प्राणिनां लिङ्गशरीरविशेषास्त एव [स्कन्धाः] शाखामूलस्थानानि यस्य स तथोक्तः । तृष्णैव सलिलं तेन सेकः सेचनं तेनोद्भूतो दर्पो गर्व उच्छ्रायो यस्य स तथोक्तः । बुद्धीन्द्रियाणां ये विषयाः शब्दादयस्ते प्रवालाङ्कुराः किसलयान्यस्येति तथोक्तः । श्रुत्यादीनि पलाशानि पत्राण्यस्येति तथा । यज्ञदानाचारादीन्यनेकाः क्रिया एव शोभनानि पुष्पाण्यस्येति तथा । क्वचिद्यज्ञदानतपआदीति पाठः । सुखदुःखे प्राणिवेदना एवानेको रसोऽस्येति तथा । प्राणिभिरुपजीव्यमनन्तत्वेन फलं यस्मिन्स तथा । फलतृष्णैव सलिलावसेकस्तेन प्ररूढानि कर्मवासनादीनि जटीकृतानि सात्त्विकादिभावेन मिश्रीकृतानि दृढबद्धा-

---

१ ट. जटीकृ° ।

न्यवान्तरमूलानि यस्येति स तथोक्तः । सत्यनामादिषु सप्तलोकेषु ब्रह्मादीनि भूतान्येव पक्षिणस्तैः कृतं नीडमास्पदं यस्मिन्स तथोक्तः । प्राणिनां सुखदुःखाभ्यामुद्भूतौ हर्षशोकौ ताभ्यां यथासंख्येन जातानि नृत्यं च गीतं च गानं च वादित्रं च वाद्यसामान्यं क्ष्वेलितं च केलिविशेष आस्फोटितं च भुजाबन्धो हर्षितं चाऽऽमोदविशेषस्तज्जन्यपरहस्ताद्याकर्षणमाकृष्टं च तानि । तथा तानि च रुदितादयोऽनेके शब्दाश्च तैः कृतस्तुमुलीभूतो महारवो यस्मिन्स तथेति विग्रहः । आस्फोटहसितेत्यपि पाठः सुगमः। वेदान्तैस्तत्त्वमस्यादिभिर्विहितं जनितं यत्प्रत्यगभिन्नब्रह्मज्ञानं तदेवासङ्गशस्त्रमप्रतिबध्यमानशस्त्रं तेन कृत उच्छेदो नाशो यस्य स तथोक्तः । अश्वत्थशब्दस्य संसारे गौणीं वृत्तिमाह—अश्वत्थवदिति । कामकर्मणी एव वातस्तेनेरितो नित्यः प्रचलितः स्वभावो यस्य स तथोक्तः । तिर्यक्शुनकादिजन्म । प्रेतोऽनग्निसंस्कृताज्ञजन्तूनामवस्थाविशेष आन्तरालिकः । आदिशब्देन स्वेदजन्यादयो ग्राह्याः । तादृशैः शाखाभिरवाक्शाखः । सनातनश्चिरं प्रवृत्त इत्यन्वयः । तत्र हेतुः—अनादित्वादिति । तदेवेत्यादिवाक्यमपेक्षितं पूरयन्व्याचष्टे—यदिति । अविनाशस्वभावत्वे हेतुमाह—सत्यत्वादिति । प्रपञ्चस्य तद्वैपरीत्यमाह—वाचेत्यादिना । कदेत्यपेक्षायामाह—उत्पत्तीति ॥ १ ॥

---

यदिदं किंच जगत्सर्वं प्राण एजति निःसृतम् ।
महद्भयं वज्रमुद्यतं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ २ ॥

यद्विज्ञानादमृता भवन्तीत्युच्यते जगतो मूलं तदेव नास्ति ब्रह्मासत एवेदं निःसृतमिति तन्न । यदिदं किंच यत्किंचेदं जगत्सर्वं प्राणे परस्मिन्ब्रह्मणि सत्येजति[२] कम्पते तत एवं[१] निःसृतं निर्गतं सत्प्रचलति नियमेन चेष्टते । यदेवं जगदुत्पत्त्यादिकारणं ब्रह्म तन्महद्भयम् । महच्च तद्भयं च बिभेत्यस्मादिति महद्भयम् । वज्रमुद्यतमिव वज्रम् । यथा वज्रोद्यतकरं स्वामिनमभिमुखीभूतं दृष्ट्वा भृत्या नियमेन तच्छासने[३] वर्तन्ते तथेदं चन्द्रादित्यग्रहनक्षत्रतारकादिलक्षणं जगत्सेश्वरं नियमेन क्षणमप्यविश्रान्तं वर्तत इत्युक्तं भवति । य एतद्विदुः स्वात्मप्रवृत्तिसाक्षिभूतमेकं ब्रह्मामृता अमरणधर्माणस्ते भवन्ति ॥ २ ॥

---

आ० टी०—कार्यस्य शून्यतापर्यन्तं नष्टस्यासत्त्वपूर्वकमेव जन्म ततो नास्ति मूलमिति शङ्कते—यद्विज्ञानादिति । तन्न । शशविषाणादेरसतः समुत्पत्त्यदर्शनात्सत्पूर्वे-

---

१ ग. घ. च. °व सन्निर्ग° । २ क. घ. ङ. झ. ञ. ट. ठ. °देव ज° । ग. च. °देवेदं ज° । ३ क. ख. ज. °ने प्रव° ।

कत्वप्रसिद्धेश्चास्ति सद्रूपं वस्तु जगतो मूलं तच्च प्राणपदलक्ष्यं प्राणप्रवृत्तेरपि हेतुत्वादित्यर्थः ॥ २ ॥

---

गो० टी०—कार्यस्य शून्यपर्यन्तं नाशाद्सत्पूर्वकमेव जन्म ततो नास्ति मूलमिति शङ्कते—यद्विज्ञानादिति । परिहरति—तन्नेति । शशविषाणादेरसत उत्पत्त्यदर्शनात्कार्यस्य सत्पूर्वकत्वप्रसिद्धेश्चास्ति सद्रूपं वस्तु जगतो मूलं तच्च प्राणपदलक्ष्यं प्राणवृत्तेरपि हेतुत्वादित्यर्थः । धात्वर्थं प्रकटयति—तत एवेति । नात्र वाक्येषु ब्रह्मणो विच्छेदोऽस्तीत्यभिप्रेत्योत्तरं वाक्यं व्याचष्टे—यदेवमित्यादिना । उद्यतं वज्रमिव वज्रमुद्यतम् । पदार्थमभिधाय तात्पर्यमाह—यथेत्यादिना । एतच्छब्दार्थमाह—स्वात्मेति । स्वसंबन्ध्यन्तःकरणप्रवृत्तीनां साक्षिभूतमित्यर्थः । य एतद्विदुस्तेऽमृता भवन्तीत्यन्वयः ॥ २ ॥

---

कथं तद्भयाज्जगद्वर्तत इत्याह—

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः ।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः ॥ ३ ॥

भयाद्भीत्या परमेश्वरस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यो भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः । न हीश्वराणां लोकपालानां समर्थानां सतां नियन्ता चेद्वज्रोद्यतकरवन्न स्यात्स्वामिभयभीतानामिव भृत्यानां नियता प्रवृत्तिरुपपद्यते ॥ ३ ॥

---

आ० टी०—॥ ३ ॥

---

गो० टी०—सूर्यादीनां नियतप्रवृत्त्यनुपपत्त्या नियामकत्वेन संभावितं यत्पारमेश्वरं रूपं तदवगमायेह यत्नः कर्तव्य इत्याकाङ्क्षापूर्वकमाह—कथं तदित्यादिना । न हि नियता प्रवृत्तिरुपपद्यत इति संबन्धः ॥ ३ ॥

---

इह चेदशकद्बोद्धुं प्राक्शरीरस्य विस्रसः ।
ततः सर्गेषु लोकेषु शरीरत्वाय कल्पते ॥ ४ ॥

तदिह जीवन्नेव चेद्यद्यशकच्छक्नोति शक्तः सञ्ज्ञानात्येतद्भयकारणं ब्रह्म बोद्धुमवगन्तुं प्राक्पूर्वं शरीरस्य विस्रसोऽवस्रंसनात्पतनात्संसारबन्धनाद्विमुच्यते । न चेदशकद्बोद्धुं ततोऽनवबोधात्सर्गेषु सृज्यन्ते येषु स्रष्टव्याः प्राणिन इति सर्गाः पृथिव्यादयो लोकास्तेषु सर्गेषु लोकेषु

---

[illegible]

शरीरत्वाय शरीरभावाय कल्पते समर्थो भवति शरीरं गृह्णातीत्यर्थः । तस्माच्छरीरविस्रंसनात्प्रागात्मबोधाय यत्न आस्थेयः ॥ ४ ॥

आ० टी०—सूर्यादीनां नियतप्रवृत्त्यनुपपत्त्या नियामकत्वेन संभावितं यत्पा रमेश्वरं रूपं तदवगमायैवेह यत्नः कर्तव्य इत्याह—तच्चेति । इहैव बोद्धुं शक्त सन्निहैव चेज्जानाति तदा मुच्यत एवेति संबन्धः ॥ ४ ॥

गो० टी०—तच्चेहैव बोद्धुं शक्तः सन्निहैव चेज्जानाति तदा मुच्यत एवेति संबन्धः । तत इत्यस्य व्याख्यानमनवबोधादिति । परमात्मावगमाय यत्नः कार्य इत्युक्तमुपसंहरति—तस्मादित्यादिना ॥ ४ ॥

यस्मादिहैवाऽऽत्मनो दर्शनमादर्शस्थस्येव मुखस्य स्पष्टमुपपद्यते न लोकान्तरेषु ब्रह्मलोकादन्यत्र । स च दुष्प्रापः । कथमित्युच्यते—

यथाऽऽदर्शे तथाऽऽत्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके ।
यथाऽप्सु परीव ददृशे तथा गन्धर्वलोके छायातप-
योरिव ब्रह्मलोके ॥ ५ ॥

यथाऽऽदर्शे प्रतिबिम्बभूतमात्मानं पश्यति लोकोऽत्यन्तविविक्तं तथेहाऽऽत्मनि स्वबुद्धावादर्शवन्निर्मलीभूतायां विविक्तमात्मनो दर्शनं भवतीत्यर्थः । यथा स्वप्नेऽविविक्तं जाग्रद्वासनोद्भवं तथा पितृलोकेऽविविक्तमेवं × दर्शनमात्मनः कर्मफलोपभोगासक्तत्वात् । यथा चाप्स्वविभक्तावयवमात्मरूपं परीव ददृशे परिदृश्यत इव तथा गन्धर्वलोकेऽविविक्तमेव दर्शनमात्मनः । एवं च लोकान्तरेष्वपि शास्त्रप्रामाण्यादवगम्यते । छायातपयोरिवात्यन्तविविक्तं ब्रह्मलोक एवैकस्मिन् । स च दुष्प्रापोऽत्यन्तविशिष्टकर्मज्ञानसाध्यत्वात् । तस्मादात्मदर्शनायेहैव यत्नः कर्तव्य इत्यभिप्रायः ॥ ५ ॥

आ० टी०—॥ ५ ॥

गो० टी०—यथाऽऽदर्शे इत्यादिवाक्यं व्याख्यातुं पातनिकामाह—यस्मादित्य

× दर्शनमात्मन इति ग्रन्थः क्वचिन्न स्यादिति टीकानुरोधेन ज्ञायते ।

१ क. ख. ज. °मेवाऽऽत्मनो दर्शनं क° । २ झ. ञ. ठ. यथाऽप्स्व° । ३ क. ङ. च. °थाऽप्स्व° । ४ ग. ङ. परिदृ° । ५ झ. ञ. ठ. °केऽविभक्त° । ६ ग. घ. च. °वं लो° । ७ क. [illegible]

दिना । इहैव मनुष्यदेह एव । यथाऽऽदर्शस्थस्य मुखस्य स्पष्टमुपलब्धिस्तथाऽऽत्म यस्मादात्मनि स्पष्टमुपलभ्यते तस्मादिहैवाऽऽत्मनो दर्शनमित्यन्वयः । एवकारव्यावर्त्य माह—नेति । तर्हि ब्रह्मलोकेऽपि तद्दर्शनं न स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—ब्रह्मेति ननु तर्हि ब्रह्मलोक एवाऽऽत्मनो दर्शनं स्यादित्याशङ्क्याऽऽह—स चेति । आक ङ्क्षापूर्वकमवतारितवाक्यं व्याचष्टे—कथमित्यादिना । स्वप्न इत्यत्राविविक्तमिति पदच्छेदः । पितृलोक आत्मदर्शनमिति शेषः । पितृलोके दर्शनस्याविविक्तत्वे हेतु माह—कर्मफलेति । गन्धर्वलोकग्रहणमुपलक्षणमित्याह—एवमिति । एकस्मिन्नात्म दर्शनमित्यनुवर्तते । दुष्प्रापत्वे हेतुमाह—अत्यन्तेति । विशिष्टं कर्माश्वमेधादि तत्सहि ज्ञानमुपासनं तत्साध्यत्वादित्यर्थः । पदतात्पर्यार्थमाह—तस्मादिति । इहैव मनुष्य शरीर एव ॥ ५ ॥

---

कथमसौ बोद्धव्यः किं वा तदवबोधे प्रयोजनमित्युच्यते—

इन्द्रियाणां पृथग्भावमुदयास्तमयौ च यत् ।
पृथगुत्पद्यमानानां मत्वा धीरो न शोचति ॥ ६ ॥

इन्द्रियाणां श्रोत्रादीनां स्वस्वविषयग्रहणप्रयोजनेन स्वकारणेभ्य आकाशादिभ्यः[1] पृथगुत्पद्यमानानामत्यन्तविशुद्धात्केवलाच्चिन्मात्रात्म-[2][3] स्वरूपात्पृथग्भावं स्वभावविलक्षणात्मकतां तथा तेषामेवेन्द्रियाणामुदया-[4] स्तमयौ[5] चोत्पत्तिप्रलयौ[6] जाग्रत्स्वापावस्थापेक्षया[7] नाऽऽत्मन इति मत्वा ज्ञात्वा विवेकतो धीरो धीमान्न शोचति । आत्मनो नित्यैकस्वभावत्वस्या-[8] व्यभिचाराच्छोककारणत्वानुपपत्तेः[9][10] । तथा च श्रुत्यन्तरं—तरति शोकमा-त्मविदिति ॥ ६ ॥

---

आ० टी०—॥ ६ ॥

---

गो० टी०—उक्तं वाक्यमाकाङ्क्षापूर्वकं योजयति—कथमित्यादिना । इन्द्रि यग्रहणमुपलक्षणमित्याह—स्वविषयेति । विषयाः शब्दादयस्तेषां ग्रहणमेव प्रयोज तेन सहेत्यर्थः । इन्द्रियाणां नित्यत्वं व्यावर्तयति—आकाशेति । पृथग्भावप्रतियोगि निर्दिशति—अत्यन्तेति । विलक्षणात्मकतां मत्वेत्यन्वयः । एवमुत्पत्तिप्रलयौ मत्वेत्य न्वयः । मननप्रकारं दर्शयति—जाग्रादिति[11] । नाऽऽत्मनस्ताविति मत्वेति संबन्धः

---

१ ग. ङ. च. झ ञ. ठ. स्ववि° । २ ग. घ. ङ. °दिभ्य उत्प° । ३ क. झ. ञ. ट. °न्तशु ४ ग. घ. च. °त्मकत्व° । ५ क. ख. ञ. °यौ च यत्पृथगुत्पद्यमानानामुत्प° । ६ क. ख. च. °यौ च ना° । ७ ङ. झ. ञ. ट. °पापे° । ८ क. ख. ज. °कत्वस्या° । ९ क च. °त्वादव्य° १० क. ख. च. ञ. °च्छोकादिका° । ११ ञ. ट. °ति । आत्म° ।

उत्पत्तिप्रलयौ जाग्रत्स्वप्नावस्थापेक्षया नाऽऽत्मन इति पाठान्तरं सुगमम्। ज्ञाने साधनमाह—विवेकत इति। धीमानित्यग्ब्रह्मैक्यपर्यवसन्नमतिः। शोकाभावे हेतुमाह—आत्मन इति ॥ ६ ॥

---

यस्मादात्मन इन्द्रियाणां पृथग्भाव उक्तो नासौ बहिरधिगन्तव्यो यस्मात्प्रत्यगात्मा स सर्वस्य, तत्कथमित्युच्यते—

**इन्द्रियेभ्यः परं मनो मनसः सत्त्वमुत्तमम्।**
**सत्त्वादधि महानात्मा महतोऽव्यक्तमुत्तमम् ॥ ७ ॥**

इन्द्रियेभ्यः परं मन इत्यादि। अर्थानामिहेन्द्रियसमानजातीयत्वादिन्द्रियग्रहणेनैव ग्रहणम्। पूर्ववदन्यत्। सत्त्वशब्दाद्बुद्धिरिह ॥ ७ ॥

---

आ० टी०—इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था इति पूर्वमुक्तमिह त्वर्थानामग्रहणात्सर्वप्रत्यगात्मत्वं न संभवतीत्याशङ्क्याऽऽह—अर्थानामिहेति ॥ ७ ॥

---

गो० टी०—साध्याहारमुदयास्तमयौ च यदित्यत्र यच्छब्दं व्याचष्टे—यस्मादिति। तस्मान्नासौ बहिरव(धि)गन्तव्य इत्यर्थः। प्रकारान्तरेण व्याचष्टे—यस्मादिति। सर्वस्येति। तामत्र बहिरव(धि)गन्तव्यः। किंतु प्रत्यक्त्वेनैवावगन्तव्य इति शेषः। तदिति पृथग्भावप्रत्यक्त्वे। इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था इति पूर्वमुक्तमिह त्वग्रहणात्सर्वप्रत्यगात्मत्वं न संभवतीत्याशङ्क्याऽऽह—अर्थानामिहेति। पूर्ववदन्यदिति। अन्यत्परत्वाद्युपवर्णनम्। पूर्ववदिन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था इतिव्याख्यानवदित्यर्थः ॥ ७ ॥

---

**अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापकोऽलिङ्ग एव च। यं**
**ज्ञात्वा मुच्यते जन्तुरमृतत्वं च गच्छति ॥ ८ ॥**

अव्यक्तात्तु परः पुरुषो व्यापको व्यापकस्याप्याकाशादेः सर्वस्य कारणत्वात्। अलिङ्गो लिङ्ग्यते गम्यते येन तल्लिङ्गं बुद्ध्यादि तदविद्यमानमस्येति सोऽयमलिङ्ग एव। सर्वसंसारधर्मवर्जित इत्येतत्। यं ज्ञात्वाऽऽचार्यतः शास्त्रतश्च मुच्यते जन्तुरविद्यादिहृदयग्रन्थिभिर्जीवन्नेव पतितेऽपि शरीरेऽमृतत्वं च गच्छति। सोऽलिङ्गः परोऽव्यक्तात्पुरुष इति पूर्वेणैव संबन्धः ॥ ८ ॥

---

१ क. ङ. °त्मा सर्व°। २ ग. घ. च. °स्य कथ°। ३ क. °रिहोच्यते। ७। ४ ग. च. तत्करणं लिङ्गं। ५ घ. °ङ्गं करणं बु°। ६ क. ख. ज. °व च। स°। ७ च. परो ह्यव्य°। ८ क. ... °णैव सं°।

आ० टी०—बुद्धिसुखदुःखादिः साश्रयो गुणत्वाद्रूपवदिति वैशेषिका अनुमिमते तदसत् । साश्रयत्वमात्रसाधने सिद्धसाधनत्वान्मनस एव कामादिगुणवत्त्वश्रवणादात्माश्रयत्वकल्पने च निर्गुणत्वशास्त्रविरुद्धत्वादात्मना सह बुद्ध्यादेरविनाभावाग्रहणाच्च बुद्ध्यादि नाऽऽत्मलिङ्गमित्याह-लिङ्ग्यते गम्यते येनेति ॥ ८ ॥

गो० टी०—व्यापकत्वे हेतुमाह—व्यापकस्येति । बुद्ध्यादि साश्रयं गुणत्वाद्रूपादिवदिति वैशेषिका अनुमिमते तदसत्साश्रयत्वसाधने सिद्धसाधनत्वान्मनस एव कामादिगुणवत्त्वश्रवणादात्माश्रयत्वकल्पने च निर्गुणत्वप्रतिपादकशास्त्रविरोधादात्मना सह बुद्ध्यादेरविनाभावाग्रहणाच्च न बुद्ध्याद्यात्मलिङ्गमित्याह-लिङ्ग्यते गम्यते येनेति । मुच्यतेऽमृतत्वं च गच्छतीति वाक्ययोः पौनरुक्त्यं परिहरन्व्याचष्ट—यं ज्ञात्वेत्यादिना ॥ ८ ॥

कथं तर्ह्यलिङ्गस्य दर्शनमुपपद्यत इत्युच्यते—

**न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्च-नैनम् । हृदा मनीषा मनसाऽभिक्लृप्तो य एतद्वि-दुरमृतास्ते भवन्ति ॥ ९ ॥**

न संदृशे संदर्शनविषये न तिष्ठति प्रत्यगात्मनोऽस्य रूपम् । अतो न चक्षुषा सर्वेन्द्रियेण । चक्षुर्ग्रहणस्योपलक्षणार्थत्वात् । पश्यति नोपलभते कश्चन कश्चिदप्येनं प्रकृतमात्मानम् । कथं तर्हि तं पश्येदित्युच्यते-हृदा हृत्स्थया बुद्ध्या । मनीषा मनसः संकल्पादिरूपस्येष्टे नियन्तृत्वेनेति मनीट् तया हृदा मनीषाऽविकल्पयित्र्या । मनसा मननरूपेण सम्यग्दर्शनेन । अभिक्लृप्तोऽभिसमर्थितोऽभिप्रकाशित इत्येतत् । आत्मा ज्ञातुं शक्यत इति वाक्यशेषः । तमात्मानं ब्रह्मैतद्ये विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ ९ ॥

आ० टी०—कथं दर्शनमुपपद्यत इति प्रष्टुः कोऽभिप्रायः किं विषयतया दर्शनं वक्तव्यमुताविषयतयैव दर्शनोपायो वाच्यः प्रथमं प्रत्याह—न संदृश इति । रूपादिमत्तद्विशेषणं च दर्शनविषययोग्यं भवति तदभावादित्यर्थः । द्वितीयं प्रत्याह— कथं तर्हीति । बाह्यकरणग्रामोपरमेऽपि यदा मनो विषयान्संकल्पयते तदा मुमुक्षोर्बुद्धिस्तस्य नियन्त्री भवति । हे मनः किमर्थं त्वं पिशाचवत्प्रधावसि । न तावत्स्वप्रयोजनार्थम् । तव जडत्वात्प्रयोजनसंबन्धानुपपत्तेर्विषयाणां च क्षयिष्णुत्वादिदोषदुष्टानां संबन्धेन

१ क. ख. ञ. तर्हि तस्यालि° । २ क. ज. °शे द° । ३ ङ. झ. ञ. ठ. °कृतात्मा° । ४ क. हि तत्पश्ये° । ट. °र्हि प° । ५ क. ख. ज. °षा विकल्पवर्तितया । म° । ६ क. झ. ञ. द. क्य इ° ।

प्रयोजनानुपपत्तेः । नापि चेतनार्थम् । तस्यासङ्गत्वात्परमानन्दस्वभावत्वाच्चेति नियन्तृत्वेन बुद्धिर्मनीडुच्यत इत्याह— **मनस इति** । आविष्कृत्यादित्येति । विषयकल्पनाशून्यया ब्रह्मास्मीत्यविषयतयैव ब्रह्मभावव्यञ्जिकया महावाक्योत्थया बुद्धिवृत्त्या ज्ञातुं शक्यत इति संबन्धः । कथंभूत आत्मेत्यत आह- **मनसेति** । यद्यन्मया दृश्यते बाह्यं घटादि तत्तदहं यथा न भवामि तथाऽस्मिन्नपि संघाते यद्यद्दृश्यं तत्तदहं न भवामि किंतु योऽत्र ज्ञोऽशः सोऽस्मि सर्वशरीरेष्वेकलक्षणलक्षितत्वादेक एवेति विचारेण प्रथमं संभावित इत्यर्थः ॥ ९ ॥

गो० टी०-अलिङ्गत्वे दर्शनमनुपपन्नमिति पृच्छति— **कथमिति** । प्रष्टुः कोऽभिप्रायः किं विषयतया दर्शनं वक्तव्यमुताविषयतयैव दर्शनोपायो वाच्य इति । प्रथमं प्रत्याह— **न संदृश इति** । अस्य प्रत्यगात्मनो रूपं न संदर्शनविषये तिष्ठतीत्यन्वयः । रूपादिमद्दर्शनयोग्यं भवति तदभावादिति भावः । द्वितीयं प्रत्याह— **कथं तर्हीति** । बाह्यकरणग्रामोपरमेऽपि यदा मनो विषयान्संकल्पयते तदा मुमुक्षोर्बुद्धिस्तस्य नियन्त्री भवति । हे मनः किमर्थं त्वं पिशाचवद्धावसि न तावत्स्वप्रयोजनार्थं जडत्वात्प्रयोजनसंबन्धानुपपत्तेर्विषयाणां च क्षयिष्णुत्वादिदोषदुष्टानां संबन्धेन प्रयोजनानुपपत्तेः । नापि चेतनार्थं तस्यासङ्गत्वात्परमानन्दस्वभावत्वाच्चेति नियन्तृत्वेन बुद्धिर्मनीडित्युच्यत इत्याह— **मनस इति** । **अभिप्रकाशित इति** । योऽत्र संघाते ज्ञोऽशः सोऽस्मिन्सर्वशरीरेष्वेकलक्षणलक्षितत्वादेक एवेति विचारेण प्रथमं संभावित इत्यर्थः ॥ ९ ॥

**सा हृन्मनीट्कथं प्राप्यत इति तदर्थो योग उच्यते—**

**यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह । बुद्धिश्च**
**न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ॥ १० ॥**

**यदा यस्मिन्काले स्वविषयेभ्यो निवर्तितान्यात्मन्येव पञ्च ज्ञानानि ।** ज्ञानार्थत्वाच्छ्रोत्रादीन्द्रियाणि ज्ञानान्युच्यन्ते । **अवतिष्ठन्ते सह मनसा** यदनुगतानि तेन संकल्पादिव्यावृत्तेनान्तःकरणेन । **बुद्धिश्चा**ध्यवसायलक्षणा **न विचेष्टति** स्वव्यापारेषु न विचेष्टते न व्याप्रियते **तामाहुः परमां गतिम्** ॥ १० ॥

आ० टी०—श्रुतवेदान्तानामपि केषांचिद्ब्रह्मास्मीतिबुद्धिस्थैर्यादर्शनादस्ति किंचित्प्रतिबन्धकान्तरं तदपनयोपायोऽप्यन्यो वक्तव्य इत्यभिप्रेत्याऽऽह— **सा हृदिति** । श्रवणमननाभ्यां प्रमाप्रमेयासंभावनानिरासेऽपि चित्तस्यानेकाग्रतादोषः प्रतिबन्धकः संभ-

१ ठ. 'बन्धत्वेन । २ घ. 'दर्थं यो' । ३ क. ख. च. 'ष्ठते ता' । ४ क. ख. च. 'श्च । ज्ञानार्थं' । ५ क. च. 'दीनीन्द्रि' । ६ क. ख ज. 'ष्टते स्व' । ७ क. ख. च. ज. न चे' ।

षनि तदपनयाय योगोऽनुष्ठातव्य उपदिश्यत इत्यर्थः । यदनुगतानीति । येन येन मनसाऽधिष्ठितानि तेन तेन सहावतिष्ठन्ते निवृत्तव्यापाराणि भवन्तीत्यर्थः ॥ १० ॥

गो० टी०—श्रुतवेदान्तानामपि केषांचिद्ब्रह्मास्मीतिबुद्धिस्थैर्यादर्शनादस्ति प्रतिबन्धान्तरं तदपनयनायान्योऽप्युपायो वक्तव्य इत्याह-सा हृन्मनीषिति । श्रवणमननाभ्यां प्रमेयासंभावनानिरासेऽपि चित्तस्यानेकाग्रतादोषः प्रतिबन्धकः संभवति तदपनयनाय योगोऽनुष्ठेय उपदिश्यत इत्यर्थः । ज्ञायतेऽनेनार्थ इति व्युत्पत्त्या ज्ञानशब्देन श्रोत्राद्युच्यत इत्याह—ज्ञानेति । यदनुगतानि संकल्पाद्यात्मकं यदन्तःकरणं तेनानुगतानि तेनान्तःकरणेन सहावतिष्ठन्ते निवृत्तव्यापाराणि भवन्तीत्यन्वयः । बुद्धिश्चेति । येन येनेन्द्रियेण सहकृता विषयपरिच्छेदाय प्रभवति तेन तेन सहावतिष्ठते निवृत्तव्यापारा भवतीत्यर्थश्चकाराद्गम्यते । परमां गतिमिति । उत्कृष्टफलसाधनत्वात्परमत्वम् ॥ १० ॥

तां * योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।
अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ॥ ११ ॥

तामीदृशीं तवदस्थां योगमिति मन्यन्ते वियोगमेव सन्तम् । सर्वानर्थसं=योगवियोगलक्षणा हीयमवस्था योगिनः । एतस्यां ह्यवस्थायामविद्याध्यारोपणवर्जितस्वरूपप्रतिष्ठ आत्मा । स्थिरामिन्द्रियधारणां स्थिरामचलामिन्द्रियधारणां बाह्यान्तःकरणानां धारणमित्यर्थः । अप्रमत्तः प्रमादवर्जितः समाधानं प्रति नित्यं यत्नवांस्तदा तस्मिन्काले यदैव प्रवृत्तयोगो भवतीति सामर्थ्यादवगम्यते । न हि बुद्ध्यादिचेष्टाभावे प्रमादसंभवोऽस्ति । तस्मात्प्रागेव बुद्ध्यादिचेष्टोपरमादप्रमादो विधीयते । अथवा यदैवेन्द्रियाणां स्थिरा धारणा तदानीमेव निरङ्कुशमप्रमत्तत्वमित्यतोऽभिधीयतेऽप्रमत्तस्तदा भवतीति । कुतः । योगो हि यस्मात्प्रभवाप्ययावुपजनापायधर्मक इत्यर्थोऽतोऽपायपरिहारायाप्रमादः कर्तव्य इत्यभिप्रायः ॥ ११ ॥

आ० टी०—वियोगमेव सन्तं योगमिति विरुद्धलक्षणया मन्यन्त इत्युक्तं तत्स्फुटयति—सर्वानर्थेति । उपसंहृतं मनो यदि सुषुप्तिं गच्छेत्तदा साऽनर्थबीजावस्था

---

* छान्दसत्वात्साधुत्वम् । = टीकायां संयोगपदोल्लेखो नास्ति । संयोगपूर्वको वियोग इति तु विग्रहो भवेत् ।

---

१ ङ. ञ. ट. 'दृशीमव' । २ ङ. ञ. ट. 'जितः स्व' । ३ ङ. ञ. ट. 'रणामच' । ४ क ख. ज. 'त्यं प्रय' । ५ ञ. ट. 'तो विधी' । ६ घ 'जनपा' ।

भवति । तद्व्यावृत्तये पूर्णं ब्रह्मास्मीत्यावृत्तौ योजयेदावृत्तौ नियुक्तं विषयेषु विक्षिप्तं चेत्स्यात्तद्दोषदर्शनेन ततोऽपि व्यावर्तयेत् । व्यावृत्तमपि ततस्तटस्थं चेत्स्यात्साऽपि यावत्कषायावस्था ततो निरुद्धं मनो यदा न जागर्ति न स्वपिति न चान्तरालावस्थं भवति पूर्णब्रह्मावभासकतयैव क्षीणं भवति तदा सर्वानर्थवियोगलक्षणा साऽवस्था भवतीत्यर्थः । योगारम्भकाले प्रमादवर्जनं विधेयतया व्याख्यायानुवादपरतया व्याचष्टे—**अथवेति** । विधिपक्षे हेतुं पृच्छति—**कुत इति** ॥ ११ ॥

---

गो० टी०—वियोगमेव सन्तं योगमिति विरुद्धलक्षणया मन्यन्त इत्युक्तं तत्स्फुटयति-**सर्वानर्थेति** । यद्दृश्यं घटादि तत्तदहं न भवामि यथा तथाऽस्मिन्नपि संघाते यद्यद्दृश्यं तत्तदहं न भवामि किंतु पूर्णं ब्रह्मास्मीत्येवमाकारवृत्तौ चित्तं योजयेत्। चित्तं विषयेषु विक्षिप्तं चेत्स्याद्विषयदोषदर्शनेन व्यावर्तयेद्व्यावृत्तं रागादिमच्चेत्स्यात्साऽपि कषायावस्था ततो निरुद्धं मनो यदा न जागर्ति न स्वपिति न चान्तरालावस्थं भवति न च रसस्वादयुक्तं पूर्णब्रह्मावभासकतयैव क्षीणं भवति तदा सर्वेभ्योऽनर्थो वियोगोऽसंबन्ध एवं(व) लक्षणं स्वरूपं यस्याः सा तादृशी भवतीत्यर्थः । हिशब्दो वेदान्तप्रसिद्ध्यवद्योतकः । अस्या अवस्थायाः प्रयोजनमाह—**एतस्यामिति** । लयविक्षेपकषायरसस्वादवर्जितायाम् । आत्मा ज्ञातुं शक्यत इति शेषः । कथंभूत आत्मेत्यत आह—**अविद्याध्यारोपणेति** । क्वचिदविद्याध्यारोपणवर्जिता स्वरूपप्रतिष्ठाऽऽत्मन इति पाठान्तरम् । पूर्वोक्तामवस्थां विशिनष्टि—**स्थिरामिति** । योगारम्भकाले प्रमादवर्जनं श्रुतिर्विधत्त इत्याह—**अप्रमत्त इति** । **सामर्थ्यादिति** । प्रमादवर्जनमन्तरा योगस्य दुष्प्रापत्वादित्यर्थः । ननु योगोत्तरकालमेवाप्रमादो विधीयतामित्याशङ्क्याऽऽह—**न हीत्यादिना** । अभाव इति पदच्छेदः । योगारम्भकाले प्रमादवर्जनं विधेयतया व्याख्यायानुवादपरतया व्याचष्टे—**अथवेति**। विधिपक्षे हेतुं पृच्छति-**कुत इति** ॥११॥

---

बुद्ध्यादिचेष्टाविषयं चेद्ब्रह्मेदं तदिति विशेषतो गृह्येत बुद्ध्याद्युपरमे च ग्रहणकारणाभावादनुपलभ्यमानं नास्त्येव ब्रह्म । यद्धि करणगोचरं तदस्तीति प्रसिद्धं लोके विपरीतं चासदित्यतश्चानर्थको योगोऽनुपलभ्यमानत्वाद्वा नास्तीत्युपलब्धव्यं ब्रह्मेत्येवं प्राप्त इदमुच्यते । सत्यम्—

**नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा ।**
**अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते ॥ १२ ॥**

नैव वाचा[1] न मनसा[2] न चक्षुषा नान्यैरपीन्द्रियैः प्राप्तुं शक्यत इत्यर्थः । तथा[3]ऽपि सर्वविशेषरहितोऽपि जगतो मूलमित्यवगतत्वादस्त्येव कार्यप्र[4]विलापनस्यास्तित्वनिष्ठत्वात् । तथा[5] हीदं कार्यं सूक्ष्मतारतम्यपारम्पर्येणानुगम्यमानं सद्बुद्धिनिष्ठामेवावगमयति । यदाऽपि विषयप्रविलापनेन प्रविलाप्यमाना बुद्धिस्तदाऽपि सा सत्प्रत्यय[6]गर्भैव[7] विलीयते बुद्धिर्हि नः प्रमाणं सदसतोर्याथात्म्यावगमे । मूलं चेज्जगतो न स्यादसदन्वितमेवेदं कार्यमसदित्येवं[8] गृह्येत न त्वेतदस्ति सत्सदित्येव तु गृह्यते । यथा मृदादिकार्यं[9] घटादि मृदाद्यन्वितम् । तस्माज्जगतो मूलमात्माऽस्तीत्येवोपलब्धव्यः[10] । कस्मात् । अस्तीति ब्रुवतोऽस्तित्व[11]वादिन आगमार्थानुसारिणः श्रद्दधानादन्यत्र नास्तिकवादिनि नास्ति जगतो मूलमात्मा निरन्वयमेवेदं कार्यमभावान्तं प्रविलीयत[12] इति मन्यमाने विपरीतदर्शिनि कथं तद्ब्रह्म[13] तत्त्वत उपलभ्यते न कथंचनोपलभ्यत इत्यर्थः ॥ १२ ॥

---

आ० टी०—उत्तरमन्त्रमवतारयितुं शङ्कामुद्भावयति—बुद्ध्यादिचेष्टाविषयं चेदिति । घटोऽस्तीति प्रतिपन्नस्य घटस्य मुद्गराभिघाताद्विलापने घटाकार एव विलीयते नास्तित्वांशस्तस्य कपालादावप्यनुवृत्तिदर्शनात् । अतः कार्यप्रविलापनस्यास्तित्वनिष्ठत्वान्न शून्यतापर्यवसायी लय इत्युक्तमेतत्स्फुटयति—तथा हीति । स्थूलस्य कार्यस्य विलये सूक्ष्मं तत्कारणमवशिष्यते तस्यापि विलये ततः सूक्ष्ममिति यावद्दर्शनव्याप्तिमुपलभ्य यत्र न दृश्यते तत्रापि मूर्तविलयस्यावश्यंभावित्वात्सन्मात्रमेवामूर्तमवतिष्ठत इति कार्यमेव सै( सू )क्ष्मतारतम्यपारम्पर्येणानुश्रियमाणं सद्बुद्धिनिष्ठां पुरुषस्य ग( षस्यावग )मयतीत्यर्थः । ननु यद्दृश्यं तदसद्यथा स्वप्नदर्शनमिति व्याप्तिदर्शनादस्तित्वेन दृश्यस्यासत्त्वात्सद्बुद्धिरपि नास्त्येवेत्याशङ्क्याऽऽह—यदाऽपीति । सद्बुद्धिरपि नास्तीत्येवंभूतः प्रत्ययोऽवश्यमस्तीत्यभ्युपगन्तव्यम् । अन्यथा निषेधव्यवहारायोगात् । अतोऽन्ततो गत्वा सद्बुद्धिः स्वीकृता स्यादित्यर्थः । ततः किमित्यत आह—बुद्धिर्हीति । व्यभिचारिष्वपि विषयेषु सन्मात्रबुद्धेरव्यभिचारदर्शनाद्बुद्धेश्च स्वतः प्रामाण्यात्सन्मात्रं वस्त्वभ्युपगन्तव्यमित्यर्थः । इतश्च सदेव मूलं जगतो वाच्यमित्याह—मूलं चेदिति । नास्ति जगतो मूलं ब्रह्मेत्यवगमेऽपि प्रतियोगितया ब्रह्मज्ञानसंभवात्किमिति मुमुक्षुणा ब्रह्मज्ञानकामेनास्तीत्येवोपलब्धव्यमित्याह—

---

१ क. ङ. ट. °चा वा म° । २ झ. ञ. °सा च° । ३ झ. ञ. ट. °तथा हि स° । ४ घ. °विलयस्या° । ५ घ. ङ. झ. ञ. ट. ठ. तत्र ही° । ग. तथा हि तत्र ही° । ६ ख. ङ. झ. ठ. सत्यप्रत्य° । ७ क. च ट. °गर्भेव । ८ ग. घ. च. ज. °सदसदि° । ९ ग. घ. मृदसत्त्वे का° । १० क. ख. ज. °व्धव्यम् । क° । ११ ग. घ. च. °स्तिवा° । १२ क. झ. ञ. ठ. प्रली° । १३ झ. ञ. ट. °ह्मतत्त्वमुप° ।

कस्मादिति । प्रतियोगितया ज्ञानस्य निषेध्यत्वादात्मतया ज्ञानं न स्यादतो ब्रह्मज्ञानकामेनास्ति जगन्मूलमित्यवगन्तव्यमेवेत्याह-अस्तीति ब्रुवत इत्यादिना ॥ १२ ॥

---

गो० टी०-उत्तरमन्त्रमवतारयितुं शङ्कामुद्भावयति-बुद्ध्यादिचेष्टाविषयं चेदिति । घटोऽस्तीति प्रतिपन्नस्य घटस्य मुद्गरप्रहारादिलापने घटाकार एव प्रविलीयते नास्तित्वांशस्तस्य कपालादावप्यनुवृत्तिदर्शनादतः कार्यप्रविलापस्यास्तित्वनिष्ठत्वान्न शून्यतापर्यवसायी लय इत्युक्तमेतत्स्फुटयति--तथा हीति । स्थूलस्य कार्यस्य विलये सूक्ष्मं तत्कारणमवशिष्यते तस्यापि विलये ततः सूक्ष्ममिति यावद्दर्शनव्याप्तिमुपलभ्य यत्र न दृश्यते तत्राप्यमूर्तविषयत्वावश्यंभावित्वात्सन्मात्रमेवामूर्तमवतिष्ठत इति कार्यमेव सूक्ष्मतारतम्यपारम्पर्येणानुभूयमानं सत्त्वबुद्धिनिष्ठां पुरुषस्य ग( मयत्यवग )-मयतीत्यर्थः । ननु यद्दृश्यं तदसद्यथा स्वप्नदृश्यमिति व्याप्तिदर्शनादसत्त्वेन दृश्यस्य सर्वस्यासत्त्वात्सद्बुद्धिरपि नास्त्येवेत्याशङ्क्याऽऽह--यदाऽपीति । सद्बुद्धिरपि नास्तीत्येवं प्रत्ययोऽवश्यमभ्युपगन्तव्योऽन्यथा निषेधव्यवहारायोगात् । अन्ततो गत्वा सद्बुद्धिः स्वीकृता स्यादित्यर्थः । ततः किमित्यत आह-बुद्धिर्हीति । व्यभिचारिष्वपि विशेषेषु सन्मात्रबुद्धेरव्यभिचारदर्शनाद्बुद्धेश्च स्वतः प्रामाण्यात्सन्मात्रं वस्त्वभ्युपगन्तव्यमित्यर्थः । इतश्च सदेव जगतो मूलं वाच्यमित्याह-मूलं चेदिति । ननु नास्ति यज्जगतो मूलं ब्रह्मेत्यवगमेऽपि प्रतियोगितया ब्रह्मज्ञानसंभवात्किमिति मुमुक्षुणा ब्रह्मज्ञानकामेनास्तीत्येवोपलब्धव्यमित्यत आह---त( क )स्मादिति । प्रतियोगितया ज्ञानस्य निषिद्धत्वादात्मतया ज्ञानं न स्यादतो ब्रह्मज्ञानकामेनास्ति मूलं जगत इत्यवगन्तव्यमित्याह--अस्तीति ब्रुवत इत्यादिना । तस्मादस्तीति ब्रुवत इति पाठस्त्वनारूढः ॥ १२ ॥

---

अस्तीत्येवोपलब्धव्यस्तत्त्वभावेन चोभयोः ।
अस्तीत्येवोपलब्धस्य तत्त्वभावः प्रसीदति ॥ १३ ॥

तस्मादपोह्यासद्वादिपक्षमासुरमस्तीत्येवाऽऽत्मोपलब्धव्यः सत्कार्यो बुद्ध्याद्युपाधिः । यदा तु तद्रहितोऽविक्रिय आत्मा कार्यं च कारणव्यतिरेकेण नास्ति वाचाऽऽरम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यमिति श्रुतेस्तदा तस्य निरुपाधिकस्यालिङ्गस्य सदसदादिप्रत्ययविषयत्ववर्जितस्याऽऽत्मनस्तत्त्वभावो भवति । तेन च रूपेणाऽऽत्मोपलब्धव्य इत्यनुवर्तते । तत्राप्युभयोः सोपाधिकनिरुपाधिकयोरस्तित्वतत्त्वभा-

---

१ ङ. झ. ञ. ट. °त्येवोप°। २ ख. ज. °ब्धव्यस्तत्त्वभावेन च स° । ३ क. °योस्तद्भाव° । ग. घ. °योर्नास्तित्वभा° ।

भयोः । निर्धारणार्था षष्ठी । पूर्वमस्तीत्येवोपलब्धस्याऽऽत्मनः सत्कार्योपाधिकृतास्तित्वप्रत्ययेनोपलब्धस्येत्यर्थः । पश्चात्प्रत्यस्तमितसर्वोपाधिरूप आत्मनस्तत्त्वभावो विदिताविदिताभ्यामन्योऽद्वयस्वभावो नेति नेती[1]त्यस्थूलमनण्वह्रस्वमदृश्येऽनात्म्येऽनिलयन इत्यादिश्रुति[2]निर्दिष्टः प्रसीदत्यभिमुखी भवति । आत्म[3]प्रकाशनाय पूर्वमस्तीत्युपलब्धवत इत्येतत् ॥ १३ ॥

आ० टी०—सोपाधिकस्याऽऽत्मनो ज्ञानान्मुक्त्यसंभवान्निरुपाधिकज्ञानायापि प्रयतितव्यमित्याह—यदा त्विति । सोपाधिके प्रथमं स्थिरीभूतस्य तद्द्वारेण लक्ष्यपदार्थावगमे सति क्रमेण वाक्यार्थावगतिः संभाव्यत इत्याह—तत्राप्युभयोरित्यादिना । सदुपलभ्यमानं कार्यमुपाधिर्यस्य कारणत्वस्य तत्कृतो योऽस्तित्वप्रत्ययः कारणत्वादस्ति पर आत्मेति तेनोपलब्धस्येति योजना ॥ १३ ॥

गो० टी०—सोपाधिकस्याऽऽत्मनो ज्ञानान्मुक्त्यसंभवान्निरुपाधिकज्ञानाय प्रयतितव्यमित्याह—यदा त्विति । सोपाधिकस्य प्रथमं स्थिरीभूतस्य तद्द्वारेण लक्ष्यपदार्थावगमे सति क्रमेण वाक्यार्थावगमः संभवतीत्याह—तत्राप्युभयोरित्यादिना । सदुपलभ्यमानं कार्यमुपाधिर्यस्य कारणत्वस्य तत्कृतोऽस्तित्वप्रत्ययः कारणत्वादस्ति पर आत्मेत्युपलब्धस्येति योजना ॥ १३ ॥

यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।
अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥ १४ ॥

एवं परमार्थ[6]दर्शिनो यदा यस्मिन्काले सर्वे कामाः कामयितव्य[4]स्यान्यस्याभावात्प्रमुच्यन्ते विशीर्यन्ते येऽस्य प्राक्प्रतिबोधाद्विदुषो हृदि बुद्धौ श्रिता आश्रिताः । बुद्धिर्हि कामानामाश्रयो नाऽऽत्मा । कामः संकल्प इत्यादिश्रुत्यन्तराच्च । अथ तदा मर्त्यः प्राक्प्रबोधादासीत्स प्रबोधो[5]त्तरकालमविद्याकामकर्मलक्षणस्य मृत्योर्विनाशादमृतो भवति, गमनप्रयोजकस्य[7] मृत्योर्विनाशाद्गमनानुपपत्तेरत्रेहैव प्रदीपनिर्वाणवत्सर्वबन्धनोपशमाद्ब्रह्म समश्नुते ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः ॥ १४ ॥

१ क. ख. ज. नेति ह्यस्थू° । २ ग. घ. च. °श्रुतेर्निर्दि° । ३ ग. घ. च. °मात्मद° । ४ ग. घ. च. °व्यस्याभा° । ५ झ. घ. ट. °त्स बो° । ६ क. घ. °स्य वा मृ° । ७ ख. ज. °पत्तेः । तैर्नेहै° ।

आ० टी०—सर्वे कामा इति । प्रवृत्तफलकर्मोपस्थापिते शरीरस्थितिनिमित्तान्नपानादौ प्रवृत्तिकारणेच्छाव्यतिरिक्ताः सर्वे कामाः काम्येन ज्योतिष्टोमादिना स्वर्गं प्राप्स्यामि त्रिपुर्या(रा)राधनेन जनं वशी करिष्यामीत्येवमादयः स्वर्गादिदेहेष्वप्यहमेव तिष्ठामि तद्भोगाश्च प्राप्ता एवाप्राप्तविषयश्च कामो व्यर्थो मिथ्या चासाविति विचारेण विशीर्यन्त इत्यर्थः । कामाश्रय आत्मेति वैशेषिकमतं श्रुतिबाह्यत्वान्नाऽऽदरणीयमेवेत्याह—बुद्धिर्हीति ॥ १४ ॥

---

गो० टी०—सर्वे कामा इति । प्रवृत्तकर्मतत्फलोपस्थापिते शारीर[1]स्थितिनिमित्तान्नपानादौ प्रवृत्तिकारणेच्छाव्यतिरिक्ताः सर्वे कामाः काम्येन ज्योतिष्टोमादिना स्वर्गं प्राप्स्यामीति त्रिपुराराराधनेन जनं च वशी करिष्यामीत्येवमादयः स्वर्गादिदेहेष्वहमेव तिष्ठामि भोगश्च प्राप्ते विषये[2]ऽप्राप्तविषयश्च कामो व्यर्थो मिथ्या चासाविति विचारेण विशीर्यन्त इत्यर्थः । कामाद्याश्रय आत्मेति वैशेषिकमतं श्रुतिबाह्यत्वादनादरणीयमित्याह—बुद्धिर्हीति ॥ १४ ॥

---

कदा पुनः कामानां मूलतो विनाश इत्युच्यते—

**यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते हृदयस्येह ग्रन्थयः । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्[3][4]ध्यनुशासनम् ॥ १५ ॥**

यदा सर्वे प्रभिद्यन्ते भेदमुपयान्ति विनश्यन्ति हृदयस्य बुद्धेरिह जीवत एव ग्रन्थयो ग्रन्थिवद्दृढबन्धनरूपा अविद्याप्रत्यया इत्यर्थः । अहमिदं शरीरं ममेदं धनं सुखी दुःखी चाहमित्येवमादिलक्षणास्तद्विपरीतब्रह्मात्मप्रत्ययोपजननाद्[5]ब्रह्मै[6]वाहमस्म्यसंसारीति विनष्टेष्वविद्याग्रन्थिषु तन्निमित्ताः[7] कामा मूलतो विनश्यन्ति । अथ मर्त्योऽमृतो भवत्येतावद्ध्येतावदेवैतावन्मात्रं नाधिकमस्तीत्याशङ्का कर्तव्या । अनुशासनमनुशिष्टिरुपदेशः सर्ववेदान्तानामिति वाक्यशेषः ॥ १५ ॥

---

आ० टी०—कामप्रविलयस्य सुषुप्तेऽपि भावादमृतत्वाचिह्नत्वं न भवतीति मत्वाऽऽह—कदा पुनरिति ।

---

१ अ. ठ. °ते शरी° । २ ठ. °षये भोगोऽप्रा° । ३ ट. °त्येतद्ब्रह्ममुपात° । ४ क. छ. झ. ञ. °वद्नु° । ५ ङ. झ. ञ. °रमज्ञाना° । ६ ङ. झ. ञ. ट. °ह्मवास्म्य° । ७ झ. ञ. ठ. °मित्तिकाः

गो० टी०—कामप्रविलयस्य सुषुप्तेऽपि भावादमृतत्वज्ञापकत्वं न संभवतीति मत्वाऽऽह-कदा पुनरिति । अविद्याप्रत्ययान्विशिनष्टि- अहमिदमित्यादिना । आत्मप्रत्ययेन तन्नाशं दर्शयन्कामोच्छित्तिमाह—तद्विपरीतेत्यादिना । इति प्रत्ययोप-जननादिति संबन्धः । अथ तदेत्यर्थः । उपदिश्यत इति व्युत्पत्त्या प्रत्यगभिन्नः परमात्माऽभिधीयते ॥ १५ ॥

---

निरस्ताशेषविशेषव्यापिब्रह्मात्मप्रतिपत्त्या प्रभिन्नसमस्ताविद्यादिग्रन्थेर्जीवत एव ब्रह्मभूतस्य विदुषो न गतिर्विद्यत इत्युक्तमत्र ब्रह्म समश्नुत इत्युक्तत्वान्न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येतीति श्रुत्यन्तराच्च । ये पुनर्मन्दब्रह्मविदो[२] विद्यान्तरशीलिनश्च ब्रह्मलोकभाजो ये च तद्विपरीताः संसारभाजस्तेषामेष गतिविशेष उच्यते प्रकृतोत्कृष्टब्रह्मविद्याफलस्तुतये । किंचान्यदग्निविद्या पृष्टा प्रत्युक्ता च । तस्याश्च फलप्राप्तिप्रकारो वक्तव्य इति मन्त्रारम्भः । तत्र—

शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिः-सृतैका । तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या[३] उत्क्रमणे भवन्ति ॥ १६ ॥

शतं च शतसंख्याका एका च सुषुम्ना नाम पुरुषस्य हृदयाद्विनिःसृता नाड्यः शिरास्तासां मध्ये मूर्धानं भित्त्वाऽभिनिःसृता निर्गता सुषुम्ना नाम । तयाऽन्तकाले हृदय आत्मानं वशीकृत्य योजयेत् । तया नाड्योर्ध्वमुपर्यायन्गच्छन्नादित्यद्वारेणामृतत्वममरणधर्मत्वमापेक्षिकम् । आभूतसंप्लवं स्थानममृतत्वं हि भाष्यत इति स्मृतेः ब्रह्मणा[४] वा सह कालान्तरेण मुख्यममृतत्वमेति भुक्त्वा भोगाननुपमान्ब्रह्मलोकगतान्[५] । विष्वङ्नानाविधगतयोऽन्या नाड्य उत्क्रमणे निमित्तं भवन्ति संसारप्रतिपत्त्यर्था एव[६] भवन्तीत्यर्थः ॥ १६ ॥

---

आ० टी०-प्रकरणविच्छेदेनोक्तस्य संबन्धं दर्शयति—निरस्ताशेषेत्यादिना । यदभाणि भास्करेण प्रकरणाद्ब्रह्मविद्विषयैवेयं गतिरिति तदसद्गतिश्रवणेन लिङ्गेन पारि-

---

१ क. ख. ज. °रशालि° । २ घ. °मेव ग° । ३ ख. ज. विश्वगन्या । ४ ख. क. ञ. ट. °णा स° । ५ ग. च झ. ञ. ट. ठ. °विधा ग° । ६ ङ. झ. ञ. ट. °व संभ° ।

च्छिन्ने गमनयोगेऽन्यथा गतेः संबन्धाभावे सति दुर्बलेन प्रकरणेन प्रकृतब्रह्माभिसंबन्धानुपपत्तेः। नाड्यन्तराणामपि तत्संबन्धप्रसङ्गाच्छ्रुतिविरुद्धत्वप्रसङ्गाच्च। विस्तरश्च प्रकटार्थे द्रष्टव्यः ॥ १६ ॥

---

गो० टी०—प्रकरणविच्छेदोक्तस्य संबन्धं दर्शयति—निरस्ताशेषेत्यादिना। निरस्ता अशेषविशेषा यस्मात्तथा तच्च तद्ब्रह्मापि च तदेव ब्रह्म तस्याऽऽत्मत्वेन प्रतिपत्तिरूपज्ञानस्तया, प्रभिन्नाः समस्ता अविद्याकामकर्मादय एव ग्रन्थयो यस्मात्स तथोक्तस्तस्य ॥ १६ ॥

---

इदानीं सर्ववल्ल्यर्थोपसंहारार्थमाह—

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये संनिविष्टः। तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मु[1]ञ्जादिवेषीकां धैर्येण ॥ तं विद्याच्छुक्रममृतं तं विद्याच्छुक्रममृतमिति ॥ १७ ॥

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां संबन्धिनि हृदये संनि[2]विष्टो यथाव्याख्यातस्तं स्वादात्मीयाच्छरीरात्प्रवृहेदुद्यच्छेन्निष्कर्षेत्पृथक्कुर्यादित्यर्थः। किमिवेत्युच्यते—मुञ्जादिवेषीकामभ्यन्तरस्थां धैर्येणाप्रमा[3]देन। तं शरीरान्निष्कृष्टं चिन्मात्रं विद्याद्विजानीयाच्छुक्रममृतं यथोक्तं ब्रह्मेति। द्विर्वचनमुपनिषत्परिसमाप्त्यर्थमितिशब्दश्च ॥ १७ ॥

---

आ० टी०—॥ १७ ॥

---

गो० टी०—॥ १७ ॥

---

विद्यास्तुत्यर्थोऽयमाख्यायिकार्थोपसंहारोऽधुनोच्यते—

मृत्युप्रोक्तां[4] नाचिकेतोऽथ[5] लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्। ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद्विमृत्युरन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव ॥ १८ ॥

मृत्युप्रोक्तां[6] यथोक्तामेतां ब्रह्मविद्यां योगविधिं च कृत्स्नं समस्तं

---

१ ख. ग. ज. 'तं शुक्र' । २ क. ख. ज. 'निष्कर्षेण पृथ' । झ. ञ. ट. 'निष्कृष्येदि' । ३ ख. ज. 'तं शुक्रममृतं य' । ४ क. झ. 'क्तां नाचि' । ५ ट. 'केता यथा ल' । ६ क. 'प्रोक्तो

सोपकरणं सफलमित्येतत् । नाचिकेतो[1] वरप्रदानान्मृत्योर्लब्ध्वा प्राप्ये-त्यर्थः[3] । किम् । ब्रह्म प्राप्तोऽभून्मुक्तोऽभवदित्यर्थः । कथम् । विद्याप्राप्त्या विरजो विगतधर्माधर्मो विमृत्युर्विगतकामाविद्यश्च सन्पूर्वमित्यर्थः । न केवलं नाचिकेत[4] एवान्योऽपि[5] नाचिकेतवदात्मविद्ध्यात्ममेव[6] निरुपच-रितं[7] प्रत्यक्स्वरूपं प्राप्य तत्त्वमेवेत्यभिप्रायः । नान्यद्रूपमप्रत्यग्रूपम् । तदेवमध्यात्ममेवमुक्तप्रकारेण[8] वेद विजानातीत्येवंवित्सोऽपि[9] विरजः[10] सन्ब्रह्मप्राप्त्या विमृत्युर्भवतीति वाक्यशेषः[11] ॥ १८ ॥

आ० टी०—आत्मानं देहमधिकृत्य वर्तत इत्यध्यात्मम् । प्रत्यक्स्वरूपमेव ब्रह्म प्राप्य विमृत्युर्भवति नान्यद्रूपमर्चिरादिमार्गगम्यं प्राप्य संयोगावसानत्वादित्यर्थः । एवंशब्दस्य विच्छब्देन सह संबन्ध एवंविदिति ॥ १८ ॥

गो० टी०—आत्मानं देहमधिकृत्य वर्तत इत्यध्यात्मम् । प्रत्यक्स्वरूपमेव ब्रह्म प्राप्य विमृत्युर्भवति नान्यद्रूपमर्चिरादिमार्गगम्यं प्राप्य संयोगस्य वियोगावसानत्वादि-त्यर्थः ॥ १८ ॥

शिष्याचार्ययोः प्रमादकृतान्यायेन विद्याग्रहणप्रतिपादननिमित्तदो-षप्रशमनार्थेयं शान्तिरुच्यते[12]—

* सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवा-वहै । तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥ १९ ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इति काठकोपनिषदि द्वितीयाध्याये तृतीया वल्ली समाप्ता ॥ ३ ॥ ( ६ )

× इति काठकोपनिषदि द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ २ ॥

* ' सह नाववतु ' इत्यस्य सर्वस्य स्थाने सह नाविति शान्तिः ॥ ३ ॥ इति ग्रन्थो वर्तते झ. ञ. ट. पुस्तकेषु । छ. पुस्तके सह नाववतु इति सर्वम् । ' इति द्वितीयाध्यायः ' इत्यस्य सर्वस्य पश्चाद्वर्तते । × इति द्वितीयाध्याये तृतीया वल्ली । इति छ. पुस्तके वर्तते ।

१ क. झ. ञ. °त् । नाचि° । ट. °त् । नचिकेता व° । २ क. ख. ज. °केतोऽथ व° । ३ क. ट. °र्थः । किम । ४ क. ङ. झ. ञ. ट. °लं नचि° । ५ क. झ. °पि नचिकेतोव° । ञ. ट. °पि नाचि° । ६ क. ख. झ. °वदध्या° । ७ क. ख. ज. °मेवं नि° । ८ ङ. झ. ञ. °त्ममु° । ९ क. ख. ज. °ण योऽवे° । १० घ. ङ. ज. झ. ञ. ट. °रजाः स° । ११ क. ख. ज. °षश° । १२ क. ख. ज. °न्तिरभिधीयते ।

सह नावावामवतु पालयतु विद्यास्वरूपप्रकाशनेन । कः । स एव परमेश्वर उपनिषत्प्रकाशितः । किंच सह नौ भुनक्तु तत्फलप्रकाशनेन नौ पालयतु । सहैवाऽऽवां विद्याकृतं वीर्यं सामर्थ्यं करवावहै निष्पादयावहै । किंच तेजस्विनौ तेजस्विनोरावयोर्यदधीतं तत्स्वधीतमस्तु[1] । अथवा तेजस्वि नावावाभ्यां यदधीतं तदतीव तेजस्वि वीर्यवदस्त्वित्यर्थः । मा विद्विषावहै शिष्याचार्यावन्योन्यं प्रमादकृतान्यायाध्ययनाध्यापनदोषनिमित्तं[2] द्वेषं मा करवावहा इत्यर्थः । शान्तिः शान्तिः शान्तिरिति त्रिर्वचनं सर्वदोषोपशमनार्थमित्योमिति[3][4] ॥ १९ ॥

इति काठकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयाध्याये तृतीया वल्ली समाप्ता ॥ ३ ॥ ( ६ ) ।

---

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमदाचार्यश्रीशंकरभगवतः कृतौ काठकोपनिषद्भाष्ये द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ २ ॥

---

आ० टी०—॥ १९ ॥

इति काठकोपनिषद्भाष्यटीकायां द्वितीयाध्याये तृतीया वल्ली समाप्ता ॥ ३ ॥ ( ६ ) ।

---

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमच्छुद्धानन्दपूज्यपादशिष्यानन्दज्ञानविरचिते काठकोपनिषद्भाष्यव्याख्याने द्वितीयाध्यायः समाप्तः ॥ २ ॥

---

गो० टी०—विद्याग्रहणनिमित्तः शिष्यस्य दोषो विद्याप्रतिपादनं प्रदानं शिष्येभ्यस्तन्निमित्त आचार्यस्य दोषस्तदुभयप्रशमनार्थेत्यर्थः । कर्ता क इत्याकाङ्क्षायां प्रकरणादीश्वर इत्याह—स एवेति । तेजस्विनावित्येकं पदं षष्ठ्यर्थे व्याख्याय नाविति पदं छित्त्वा तृतीयार्थे व्याख्यानपूर्वकं तेजस्विपदमधीतमित्यस्य विशेषणं करोति—अथवेत्यादिना । सर्वदोषेति । आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकदोषप्रशमनार्थमित्यर्थः ।

---

१ ग. घ. °तं स्वधी° । २ ख. ज. °मित्तदोषं । ३ क. ख. ज. °नार्थमित्युपनिषत्समाप्त्यर्थः ॥ १९ ॥ इ° । ङ. ञ. °नार्थमुपनिषत्समाप्त्यर्थमित्योमिति ॥ १९ ॥ ४ घ. च. ट. °मित्युपनिषत्समाप्त्यर्थः ॥ १९ इ° ।

ओंशब्दो मङ्गलप्रयोजनः कृत्स्नोपनिषदर्थस्मारक इतिशब्दो भाष्यसमाप्तिद्योतनप्रयो-जन इति बोध्यम् ॥ १९ ॥

कठवल्लीभाष्यटीका कृता गोपालयोगिना ॥
अनया प्रीयतां देवो दक्षिणाशामुखः शिवः ॥ १ ॥

इति द्वितीयाध्याये तृतीया वल्ली समाप्ता ॥ ३ ॥ ( ६ ) ।

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्यश्रीमद्बालगोपालेन्द्रयतीश्वरविरचिते काठ-कोपनिषद्भाष्यविवरणे द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ २ ॥

## इति परिसमाप्तेयं सटीकाद्वयभाष्योपेता काठकोपनिषत् ॥